पाठशाला-प्रबन्ध

वर्त्तमान युगके सब प्रकारके विद्यालयोंकी
आन्तरिक तथा बाह्य व्यवस्थाके
लिये अत्यन्त प्रामाणिक
नवीनतम ग्रन्थ

—लेखक—

शिक्षाशास्त्राचार्य
साहित्याचार्य पंडित सीताराम चतुर्वेदी
एम्० ए० (हिन्दी, संस्कृत, पालि, प्रत्न भारतीय
इतिहास तथा संस्कृति), बी० टी०,
एल्-एल्० बी०

संवत् २००६
मूल्य २॥)

प्रकाशक—

नन्दकिशोर एण्ड ब्रदर्स,

चौक, बनारस।

२० फरवरी सन् १९५३ ई०

प्रथम संस्करण सं० २००५

द्वितीय संस्करण सं० २००६

तृतीय संस्करण सं० २००९

२॥)

मुद्रक—

श्री मुन्नीलाल

[illegible] प्रेस,

आदि-विश्वेश्वर, [illegible]।

भूमिका

प्रथम संस्करणकी भूमिका

प्रायः सभी शिक्षा-व्यवसायियोंका ध्यान है कि किसी भी शिक्षण-विद्यालयसे शिक्षण-कलाका प्रमाण-पत्र पाया हुआ कोई भी व्यक्ति सफल आचार्य हो सकता है, किन्तु यह धारणा अत्यन्त भ्रामक है।

पाठशाला केवल पढ़ानेका स्थान ही नहीं है, वह भावी नागरिक बनानेकी यन्त्रशाला भी है, जहाँ भावी नागरिकका शरीर, उसकी बुद्धि, उसकी वृत्ति और प्रवृत्ति सभीकी ढलाई होती है। यद्यपि इस ढलाईका उत्तरदायित्व अध्यापकोंपर भी है किन्तु उसका मुख्य दायित्व है आचार्यपर; जो विद्यालयका सूत्रधार बनकर वहाँकी नीतिका संचालन करता है। यह आचार्य मनसा, वचसा और कर्मणा इतना सावधान और कर्मठ होना चाहिए कि वह विद्यालयके दैनिक जीवनमें ऐसे अवसर और ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न करे कि विद्यालयके छात्र उन परिस्थितियोंमें सधकर अपने आचार-विचारका उचित सुधार, परिष्कार और संवर्धन करते चलें।

इस पुस्तकमें हमने स्वतंत्र भारतमें विद्यालयोंके आचार्योंका ध्यान रखते हुए उन सब विधानों, उपायों और रीतियोंका युक्तिपूर्ण विवेचन किया है जो किसी भी विद्यालयको छात्रोंका पुण्यक्षेत्र और श्रेयःक्षेत्र बना सकते हैं, जहाँ पढ़कर छात्र केवल परीक्षामें उत्तीर्ण होना ही न सीखें प्रत्युत अपने देशके स्वस्थ तथा निर्भीक नागरिक बनकर जीवनके सभी क्षेत्रोंमें कुशलतापूर्वक व्यवहार करके राष्ट्रके लिये गौरव बन सकें।

मुझे विश्वास है कि पाठशाला-प्रबन्धसे नये आचार्योंका पथ-प्रदर्शन होगा और पुराने आचार्योंको नवदृष्टि मिलेगी।

गंगा दशहरा
सं० २००५, काशी। } सीताराम चतुर्वेदी

द्वितीय संस्करणकी भूमिका

इस ग्रन्थके प्रथम संस्करणको अध्यापक मित्रोंने इतने वेगसे समाप्त कर दिया कि यह दूसरा संस्करण ज्यों का त्यों प्रकाशित करनेके लिये विवश होना पड़ रहा है, अतः अगले संस्करणमें ही आवश्यक परिवर्द्धन संभव हो सकेगा।

गंगा दशहरा
संवत् २००६, काशी } सीताराम चतुर्वेदी

तृतीय संस्करणकी भूमिका

इस ग्रन्थके द्वितीय संस्करणका प्रकाशन होनेके अनन्तर भारतके विभिन्न प्रान्तोंमें शिक्षा-कार्य करनेवाले अनेक अध्यापकों तथा विद्यालय चलानेवाले अनेक आचार्यों और व्यवस्थापकोंने अपनी अनेक समस्याएँ और जिज्ञासाएँ व्यक्त कीं जिनका व्यक्तिगत रूपसे पत्रोत्तर-द्वारा मैं समाधान करता रहा हूँ किन्तु उन समस्याओं और जिज्ञासाओंमेंसे अनेक ऐसी भी थीं जिनका समाधान व्यापक रूपसे कर देना मुझे उचित और आवश्यक जान पड़ा। इसीलिये इस तीसरे संस्करणमें तीन अध्याय बढ़ाकर पुस्तकका कलेवर भी कुछ बढ़ा दिया गया है और विषय-प्रतिपादनकी शैली भी कुछ अधिक विशद कर दी गई है जिससे विद्यालयके प्रबन्ध करनेवाले किसी भी विषय या विषयांगका सरलतासे परिचय प्राप्त हो जाय।

पिछले कुछ वर्षोंसे विद्यालय-भवन-निर्माण, शिक्षण-व्यवस्था तथा प्रबन्ध आदिके संबन्धमें अनेक मौलिक तथा अभिनव प्रयोग हुए हैं। इस ग्रन्थमें उन सभी नवीन प्रयोगोंका उचित समावेश कर दिया गया है और विश्वास है कि हमारे देशके शिक्षाशास्त्री इससे लाभ उठाकर अपने देशकी शिक्षा-पद्धतिका आवश्यक सुधार कर सकेंगे।

कुछ अंग्रेज और अमरीकी लेखकोंने पाठशाला-प्रबन्धपर पुस्तक लिखते हुए उनके नामके साथ स्वास्थ्य (हाइजीन) भी जोड़ दिया है। किन्तु इस पुस्तकके नामकरणमें वह भूल नहीं की गई है क्योंकि स्वास्थ्य तो विद्यालयकी व्यवस्थाका स्वतःसिद्ध मूल अंश है। स्वच्छता, स्वस्थता और सुन्दरता ही सभ्यताकी परमावधि है और इसीकी प्राप्ति ही वास्तविक शिक्षाका लक्ष्य है। ये तीनों—स्वच्छता, स्वस्थता और सुन्दरता ऐसी एकप्राण सखियाँ हैं कि एककी उपेक्षा करनेसे शेष दोनों स्वयं लुप्त हो जायँगी। वे तीनों शिक्षामें व्याप्त हैं।

इस ग्रन्थमें अध्याय तो इक्कीस हैं किन्तु मुद्रणालयकी भूलसे नवें अध्यायके पश्चात् दो अध्यायोंकी संख्या १० पड़ गई है इसलिये विषय-सरणिमें उसीके अनुसार दो बार अध्याय-संख्यामें १० की आवृत्ति कर दी गई है।

आशा है इस संस्करणसे पाठशाला-प्रबन्ध-सम्बन्धी संपूर्ण विषयोंका पूर्ण परिचय प्राप्त हो सकेगा।

महाशिवरात्रि,
संवत् २००६, काशी।

सीताराम चतुर्वेदी

विषय-सरणी

अध्याय पृष्ठ संख्या

१. घर, समाज, राज्य और विद्यालय १

माताकी आँखोंका तारा : माता-पिताकी आकांक्षा और आचरण : मानव-समाजका लक्ष्य : लक्ष्य-साधनका उपाय : क्या सबको शिक्षा देनी चाहिए ? : विद्यालयका पाठ्यक्रम और दिनचर्या : हमारी स्थिति : अन्तः समस्याएँ—हमारा नागरिक जीवन : बाह्य समस्याएँ—सरकार और प्रबन्ध-समितियाँ : अभिभावक : अध्यापक और समाज :

२. विद्यालय-भवन ६

पाठशालाका उद्देश्य : विद्यालयका स्थान तथा परिक्षेत्र : स्थान : परिक्षेत्र : विद्यालय-भवन : बन्द और खुली शैलीके भवन : विद्यालयका स्वास्थ्य : भवन-स्वस्थता : भवन-निर्माणकी नवीन पद्धति : भवनके कक्ष : रंग और झरोखे : कक्षा : खुली कक्षा : कक्षाके बाहर : श्यामपट्ट : श्यामपट्टोंकी तुलना : श्यामपट्टके गुण : भंडारी (अलमारी) : विशेष विषयोंकी कक्षाएँ : पीठासन और पुस्तकाधार : घुटनाटेक-प्रणाली : मध्यम मार्ग : पीठासनके नियम : असावधानीका परिणाम : अन्य सामग्री : सभा-भवन : आचार्य-कक्ष (प्रिंसिपल्स रूम) : अध्यापक-कक्ष : कार्यालय : कक्षा-पुस्तकालय : विज्ञान-कक्ष : कला-कक्ष और शिल्प-कक्ष : व्यायाम-शाला : तात्कालिक चिकित्सा-कक्ष : जलपान-घर, जलागार, शौचालय तथा विक्रय-भण्डार :

३. आचार्य २५

आचार्यका महत्त्व : आचार्यके गुण : आचार्यका दायित्व : संचालन : आचार्यकी कठिनाइयाँ : विद्यालयकी देख-भाल : तीव्र दृष्टि : नियमोंका ज्ञान : अनुभवका लेखा :

अध्याय पृष्ठ संख्या

४. आचार्यके सम्बन्ध ४२

१. आचार्य और प्रबन्ध-समिति : २. आचार्य और अध्यापक : अध्यापकोंका चुनाव : कार्य-वितरण : पाठन-कार्य : छात्रोंका विवरण : अध्यापकका आदर : निन्दकका प्रतिकार : कक्षाध्यापक : पाठ्य-शैलीका निरीक्षण : निरीक्षण-पुस्तिका (लौग-बुक) : आदेश-पुस्तिका (आर्डर-बुक) : दैनन्दिनी (डायरी) : वार्षिक सामग्री-परीक्षा : परीक्षा-कार्य : निरीक्षक : गृहाध्यापन (प्राइवेट ट्यूशन) : मेधावी छात्रोंका सहयोग : ३. आचार्य और कार्यालय : ४. आचार्य और अभिभावक : ५. आचार्य और छात्र : ६. आचार्य और छात्रावास : ७. आचार्य और सेवक : ८. आचार्य और पुस्तकाध्यक्ष : ९. आचार्य और शिक्षा-विभाग : १०. अध्यापक और अन्य सहयोगी विद्यालय : ११. आचार्य और विद्यालयका परिक्षेत्र : १२. आचार्य और समाज :

५. अध्यापक ६२

उपाधि : कलाकार अध्यापक : पथ-प्रदर्शक अध्यापक : मित्र अध्यापक : अध्यापकके गुण : विद्वत्ता : वपुष्मता : मधुर वाणी : वेष-भूषा : वैभव : आदर्श जीवन : सुघरता : चरित्र : नियमितता : सन्नद्धता : आज्ञाकारिता : अध्यापक और छात्र : आचार्य और अध्यापकका काम : सजीवता : आकर्षक : मूल्यवान् : चित्रकार और अध्यापकमें अन्तर : अध्यापक क्या करे ? : छात्रोंके जीवनका परिष्कार : मनुष्यका बच्चा पशु कैसे बन जाता है ? : बालक चाहता है प्यार, गुण, सम्मान, स्वतन्त्रता : अच्छे संस्कार बढ़ें, बुरे दूर हों : गुरु और शिष्य :

अध्याय | पृष्ठ संख्या

६. छात्रोंकी भर्ती और अधारोहण ७९

भर्ती होने की कसौटी—योग्यता : वर्ग-विभाजन : छात्रकी रुचि और कक्षा-प्रणाली : आचार्यकी असुविधा : धनी और दीनका भेद क्यों ? : अभिभावक : छात्रका अनुत्तीर्ण होना आचार्यके लिये कलंक : सर्वाङ्गीण उन्नति : आचार्यकी स्वतन्त्रता और प्रबन्ध-समितियोंका सहयोग :

७. पाठ्यक्रम ८५

पाठ्यक्रमका सिद्धान्त : शिक्षा क्यों ? : शिक्षण-व्यवस्था : पाठ्य-विषयोंके प्रकार : किस क्रमसे पाठ्यविषय रक्खे जायँ : पाठ्यक्रममें कौनसे विषय नहीं रखने चाहिएँ ? : पुस्तकोंके बदले पाठ्यविषय : पाठ्यक्रमका चयन : पाठ्य विषयोंकी उपादेयता : पाठ्यक्रम कैसे व्यवस्थित किया जाय ? : परिस्थितका क्या अर्थ है ? :

८. दिनचर्या (टाइम-टेबिल) ९३

दिनचर्या : छात्रावासकी दिनचर्या : व्यक्तिगत दिनचर्या : दिनचर्यामें अन्य कार्य :

९. घरका काम ९७

बेचारा बालक : अभिभावकोंकी मूर्खता : घरकी पढ़ाई : कामचोर बालक :

१०. परीक्षा १०१

शिक्षाका अभिशाप : परीक्षामें अध्यापककी शक्तिका अपव्यय : परीक्षाका उद्देश्य : उद्देश्य-पूर्तिके साधन : नवीन परीक्षा-पद्धतियाँ : परीक्षापर नियन्त्रण : परीक्षक : १—बुद्धि-परीक्षा : २—अर्जित ज्ञानकी परीक्षा : ३—अर्जित ज्ञानकी प्रयोग-कुशलताकी परीक्षा : ४—आगेका पाठ-भार वहन करनेकी योग्यताकी परीक्षा : ५—अर्जित ज्ञानके आधारपर मनोवृत्तिकी

अध्याय पृष्ठ संख्या

परीक्षा : ६—धारणा-शक्तिकी परीक्षा : ७—अर्जित ज्ञानके आधारपर अपने विचार प्रकट करनेकी क्षमताकी परीक्षा : आजकी परीक्षाएँ : वर्त्तमान परीक्षाकी विभीषिका : चोर और छात्र : अपराध और दण्ड : इसका अर्थ क्या ? : छात्रोंके साथ व्यवहार : छात्रोंका स्वभाव : अङ्क-दान : दोष किसका ? : परीक्षाका विधान :

१०. पुस्तकालयकी व्यवस्था ११५

पुस्तकालयका उद्देश्य : विद्यालयका आत्मा : पुस्तकोंका चुनाव : पुस्तकालयके विभाग : पुस्तकोंका संग्रह : कक्षा-पुस्तकालय - द्रुतपठनकी शिक्षण-व्यवस्था : मौन वाचन : पुस्तकालयका प्रबन्ध : पत्र-पत्रिकाएँ ; भ्रमका निराकरण : संग्रहालय :

११. विनय और शील १२५

विनयकी समस्या : गुरुकुलमें विनयकी व्यवस्था : आजका विनय : अभिभावक अपने बालकोंको क्यों भेजते हैं ? : नई पद्धतियाँ : छात्रोंकी स्वतंत्रता : एकाग्रता : अध्यापकका व्यक्तित्व : मृदु व्यवहार : पाण्डित्य : विनय : रुचिकर विधान : पैनी दृष्टि, मधुर वाणी और सधे हुए कान : सजीवता : नये अध्यापक : अधिकारका आतंक : विनयमें एकरूपता : अनुभव और प्रयोग : विनय (डिसिप्लिन) और शील (टोन) में अन्तर : विद्यालयमें शील-भावना : शील-सिद्धिके साधन :

१२. पुरस्कार और दण्ड १३८

पुरस्कार-विधान : दण्ड विधान : शारीरिक दण्ड : शारीरिक दण्डका निषेध : पारिश्रमिक दण्ड : आर्थिक दण्ड : सामाजिक दण्ड : भीति-दण्ड : तुलनात्मक पक्षपात-दण्ड : दण्डमें विवेक : बुरोंको सुधारना विद्यालयका कर्त्तव्य :

अध्याय — पृष्ठ संख्या

१३. असाधारण बालक १४५

मनुष्योंका व्यापार : स्वभावकी पहचान : बुद्धिके अनुसार : स्वभावके अनुसार : चरित्रकी दृष्टिसे : शारीरिक अवस्थाकी दृष्टिसे : आचरणकी दृष्टिसे : अपूर्ण सूची : व्यवहारमें भेद : दीन परिवारोंके छात्र : अभिभावकों द्वारा उत्पन्न की हुई उलझनें : गम्भीर अभिभावकका पुत्र : उचित पथ-प्रदर्शन : आत्म-हीनताका भाव : पुरस्कार और दण्ड-विधान : बुद्धिके अनुसार : स्वभावके अनुसार : चरित्रकी दृष्टिसे : शारीरिक अवस्थाकी दृष्टिसे : आचरणकी दृष्टिसे : अन्य प्रयोग भी सम्भव : एक उदाहरण : शरीर-संस्कार (फ़िज़िकल कल्चर) और व्यवस्थित खेल : बालकका स्वास्थ्य : अध्यापकोंका स्वास्थ्य : शिक्षा-द्वारा स्वास्थ्य : साधारण नियम : शारीरिक संस्कारके अङ्ग :

१४. व्यवस्थित खेल १६०

खेलका उद्देश्य : खेलका व्यवहार : घरेलू खेल : यूरोपमें खेलका महत्त्व : प्राणायाम : द्वन्द्व खेल तथा खेल-प्रतियोगिता : खेल-पर्व : अन्य व्यायाम तथा अभ्यास :

१५. पाठ्यक्रमातिरिक्त प्रवृत्तियाँ १७६

व्यक्तिगत सेवाका भाव : सामूहिक सेवा : स्वशासन या सहयोगिताका भाव : भोजन-समिति : स्वास्थ्य-समिति : छात्र-न्यायालय : दीन-छात्र-संघ : मानसिक और बौद्धिक विकासके साधन : साहित्य-गोष्ठी : चल-चित्र : नाटक : हस्त-लिखित पत्रिका : सभा-चातुर्य तथा सार्वजनिक सभा : प्रबन्ध-योग्यता : प्रबन्धके अवसर : बालचर-मण्डल, स्फूर्ति तथा कर्मठता :

१६. छात्रावास १८६

गुरुकुल-पद्धति और छात्रावास : गृहपति : छात्रावास ही

अध्याय — पृष्ठ संख्या

विद्यालयका मर्म-स्थल है : छात्रालयकी समस्याएँ : समस्याओंका समाधान : छात्रावास-भवन : छात्रावासके अन्य कक्ष : पुस्तकाधार (स्टडी डेस्क) : गृहपतिके अधिकार : गृहपतिके कर्त्तव्य : सम्प्रेरकोंके कर्त्तव्य : संप्रेरकके अधिकार : अग्रणी (मौनीटर) : अग्रणीके कर्त्तव्य और अधिकार : छात्रावासका महत्त्व :

१७. विद्यालयकी प्रबन्ध-समिति १९८

प्रबंध-समितिके सदस्य : व्यवस्थापक (मैनेजर) : प्रबंध-समितिके कर्त्तव्य : प्रबंध-समितिके अधिकार : अध्यापकोंको अवकाश : वृद्ध अध्यापकोंका उपयोग :

१८. शिक्षा-शास्त्रके कुछ सिद्धान्त और उनकी व्याख्या ... १०२

सिद्धान्तोंकी सर्व-मान्यता : अनुकरण : अध्यापनमें आकर्षण : व्यक्तिगत अनुभवसे व्यापक अनुभवकी ओर : प्रकटसे अप्रकटकी ओर : उदाहरणसे नियमकी ओर : ज्ञातसे अज्ञातकी ओर : साधारणसे असाधारणकी ओर : अनिश्चितसे निश्चितकी ओर : अनुभूतसे युक्ति-युक्तकी ओर : सिद्धान्त-सूत्रोंका मूल तत्त्व : सिद्धान्तोंका प्रयोग :

१९. विशेष प्रकारके नियम २०६

वालोद्यान (किन्डेरगार्टेन) : मौन्तेस्सौरी पाठशालाएँ : डाल्टन प्रयोग-शाला-योजना : प्रयोग-प्रणाली (प्रौजैक्ट मेथड) : वर्धा-शिक्षा-योजना : हस्त-कौशल : पाठ्य विषय : स्वावलम्बनका सिद्धान्त : संचेष्टन विद्यालय (एक्टिविटी स्कूल) : विभिन्न विद्यालयोंके लिये विभिन्न योजनाएँ : डाल्टन-प्रयोग-शाला-योजनाकी समीक्षा : प्रयोग-प्रणालीकी आलोचना : वर्धा योजनाकी व्याख्या :

२०. कुछ व्यावहारिक बातें २२२

॥ श्रीगणेशाय नमः ॥

पाठशाला-प्रबन्ध

१

घर, समाज, राज्य और विद्यालय

माताकी आँखोंका तारा

जैसे ही घरमें बालक जन्म लेता है वैसे ही घरमें नवीन अतिथिका स्वागत-सत्कार और उसकी सेवा-सुश्रूषा होने लगती है। घरके लोग तो उस नवाभ्यागतको गोदीमें उठाए-झुलाए घूमते ही हैं, पास-पड़ोसकी स्त्रियाँ भी आते-जाते उसे खेला लेती हैं। धीरे-धीरे बालक बढ़ने लगता है, उसके दाँत निकलते हैं, उसकी बोली फूट पड़ती है। अपनी तोतली बोलीसे, घुटनोंके बल चलकर, नई दँतुलियोंसे हँस-कर, खिल-खिलाकर, उँगलियोंके सहारे नाचकर, लड़खड़ाते पैरोंसे उठ-गिरकर वह घर-भरके प्राणियोंका खिलौना बना हुआ अपनी बाल-लीलाओंसे घरके उस छोटेसे संसारको स्वर्ग बनाए रखता है, जहाँका वह अकेला राजा होता है।

माता-पिताकी आकांक्षा और आचरण

पर, जब वह बालक चार-पाँच वर्षका हो जाता है, उसकी बोली पूरी खुल जाती है, वह सैकड़ों नये शब्द जान जाता है, सैकड़ों वस्तुओं और व्यक्तियोंसे परिचित हो जाता है, तब उसकी आवभगत कम हो जाती है, सेवा शिथिल हो जाती है। माता-पिता यह इच्छा करने लगते हैं कि अब बालकको पढ़ने बैठा दिया जाय। उनकी लालसा होने लगती है कि बालक पढ़-लिखकर योग्य बन जाय, कुछ कमाकर खा-खिला सके, दस लोगोंमें उसका नाम हो, समाजमें उसका आदर बढ़े। इनमेंसे कुछ माता-पिता चाहते हैं कि बालक घरका काम

देखे, कुछ चाहते हैं बड़े पदपर पहुँचे, पर यह कोई नहीं चाहता कि मेरा पुत्र चोर हो, दुराचारी हो, पापकर्म करे और समाजमें दुरदुराया जाय। यह सब होते हुए भी माता-पिता अपने बालकको विद्यालयोंमें पहुँचाकर अपना कर्त्तव्य समाप्त समझ लेते हैं। बालकके संस्कारमें वे विद्यालयके अधिकारियोंको कोई सहयोग नहीं देते, उनसे परामर्श और सम्मति नहीं लेते, उलटे कभी-कभी अपनी ओछी, पापिष्ठ या व्यसनपूर्ण प्रकृतिका ऐसा वज्रलेप बालककी कोमल प्रकृतिपर लगा देते हैं कि विद्यालयका संपूर्ण प्रयास उसे दूर करनेमें असफल रहता है।

मानव-समाजका लक्ष्य

माता-पिता ही नहीं, हमारा समाज भी बालकसे यही आशा रखता है। संसारके सभी सभ्य देशोंमें मानव-समाजका यही लक्ष्य रहा है कि हम सब प्रकारसे चारों ओरसे समृद्ध हों, हमारे समाजका प्रत्येक व्यक्ति सुखी हो, स्वस्थ हो, उचित वृत्तिके साथ धन कमाता हो, सम्मानके साथ समाजमें रहता हो, शील और सदाचारके साथ जीवन व्यतीत करता हो, भोजन, वस्त्र, और निवासके लिये दूसरेका मुँह न ताकता हो, किसीको कष्ट या पीड़ा न पहुँचाता हो अर्थात् वह सब प्रकारसे स्वतन्त्र, आत्मनिर्भर और विवेकशील हो, अपने सुखके साथ परिवारका, समाजका और राष्ट्रका हित कर सके, अवसर पड़नेपर अपने स्वार्थका परित्याग करके दूसरोंका कल्याण कर सके। भारतीय परिभाषामें इसीको धार्मिक जीवन कहते हैं जिसे सूत्र रूपमें गोस्वामी तुलसीदासजीने कहा है—

परहित सरिस धरम नहिं भाई। पर पीड़ा सम नहिं अधमाई॥

लक्ष्य-साधनका उपाय

समाजको परहित-परायण बनानेके लिये यह आवश्यक है कि हम अपने बालकोंको प्रारम्भसे ही ऐसी शिक्षा दें कि वे आगे चल-

कर स्वतः सुखी और दूसरेको सुख देनेवाले नागरिक बन सकें। यह स्मरण रखना चाहिए कि 'भूखे भजन न होइ गुपाला'। भूखे-पेट लोकसेवा नहीं हो सकती। यह भी नहीं भूलना चाहिए कि निर्धन होकर सात्त्विक जीवन व्यतीत करना बड़ी तपस्या और बड़े संयमका काम है,—बुभुक्षितः किं न करोति पापम्। [भूखा क्या पाप नहीं कर डालता।] इसलिये जहाँ हम परहित-परायणताकी शिक्षा दें वहाँ हम प्रत्येक छात्रमें सद्वृत्तिकी यह क्षमता भी उत्पन्न करा दें कि प्रत्येक बालक सचाईके साथ अपनी जीविका कमा सके और समाजमें सम्मानित जीवन व्यतीत कर सके। यह तभी सम्भव है जब बालकोंको कर्तव्य-अकर्त्तव्यका ज्ञान हो, उन्हें स्वस्थ शरीर मिले और समाजमें विचरण करनेकी उनमें योग्यता हो। इसका तात्पर्य यह हुआ कि हम बालकोंको ऐसी शिक्षा दें, जो उन्हें स्वस्थ, सदाचारी, विवेकशील, त्यागी, संयमी और किसी भी अच्छे व्यवसायसे अपनी जीविका कमाने-योग्य बना दे। यह सब तभी संभव है जब शिक्षा देनेवाले अध्यापक भी स्वयं त्यागी, विद्वान्, विवेकशील, सच्चरित्र और वपुष्मान् हों। साथ ही यह भी आवश्यक है कि जिस स्थानमें शिक्षा दी जाय वह स्वस्थ हो, नगरके कोलाहल और नागरिक विषाक्त वातावरणसे दूर हो और वहाँ छात्रोंके लिये ऐसी सुविधाएँ हों कि वे परस्पर सहानुभूति और स्नेहके वातावरणमें रहकर संयत तथा सहयोगपूर्ण जीवन व्यतीत करते हुए अपने मन, बुद्धि, शरीर और आत्माकी एक साथ शुद्धि और समुन्नति कर सकें।

क्या सबको शिक्षा देनी चाहिए?

किन्तु प्रश्न यह है कि क्या प्रत्येक व्यक्तिको शिक्षा देनी चाहिए? जिन लोगोंको विद्यालयों और बालकोंका अनुभव है, वे भली भाँति जानते हैं कि अध्ययनमें सब बालकोंकी रुचि नहीं होती। अतः यह आवश्यक नहीं है कि सबको विद्यालयमें शिक्षा दी जाय।

सरकारका यह कर्त्तव्य है कि वह ऐसे सब बालकोंको छाँटकर अलग कर लिया करे जिन्हें न अध्ययनमें रुचि है और न जिनमें मानसिक या बौद्धिक क्षमता और केवल उन छात्रोंको विद्यालयमें भेजा करे जो विद्यालयमें ठीक चल सकें। शेषको व्याख्यान, चलचित्र, चित्र आदि अनेक श्रव्य-दृश्य उपायोंसे व्यावहारिक शिक्षा दी जाय किन्तु लिखना, पढ़ना तथा व्यवहार गणित सिखानेकी व्यवस्था सबके लिये अवश्य की जाय। अनिवार्य शिक्षा इसी सीमातक ठीक है। इससे अधिक शिक्षाकी व्यवस्था अनिवार्य करना शक्ति और समयका अपव्यय करना है।

विद्यालयका पाठ्यक्रम और दिनचर्या

इस उद्देश्यकी पूर्तिके लिये यह परमावश्यक है कि विद्यालयका पाठ्यक्रम और वहाँकी दिनचर्या ऐसी व्यवस्थित हो कि शिक्षाके सब उद्देश्योंकी पूर्त्ति की जा सके, अर्थात् पाठ्य-विषय ऐसे हों, जिनसे विविध विषयोंका ज्ञान मिल सके और जो बालकोंकी भावी जीविकाके आधार बन सकें। दिनचर्या ऐसी हो, जिसके द्वारा बालकोंका सामाजिक जीवन व्यवस्थित हो सके, उनकी शारीरिक उन्नति हो, उन्हें सदाचरण और शिष्टाचरणका ज्ञान हो तथा लोकसेवा और परोपकारकी भावनाओंको सम्पन्न करनेके अवसर प्राप्त हो सकें। किन्तु पाठ्य विषय और दिनचर्या तबतक निरर्थक हैं, जबतक उनका संयोजन कुशल आचार्यों या अध्यापकों-द्वारा न किया जाय। अतः हमारे सम्मुख चार वस्तुएँ मुख्य रूपसे आती हैं—

१—उपयुक्त वातावरणमें उचित स्थानपर बना हुआ विद्यालय,
२—कुशल अध्यापक,
३—उचित पाठ्यक्रम, और
४—व्यवस्थित दिनचर्या।

इन्हीं दृष्टियोंसे हम विद्यालयकी व्यवस्था या पाठशालाके प्रबन्धपर विचार करेंगे।

हमारी स्थिति

इस विषयपर विचार करनेसे पूर्व हमें अपनी सुविधाओं, असुविधाओं और परिस्थितियों पर भी विचार कर लेना चाहिए। हमारा देश किसानोंका देश है, जहाँ किसान अपने खेतोंके पीछे बारहों महीने लिपटे रहते हैं। उनके पास इतनी सम्पत्ति नहीं कि वे बहुत बड़े-बड़े भव्य भवन बनवाकर अपने बालकोंके लिये विलायती ढंगकी बहु-व्ययसाध्य शिक्षाका प्रबन्ध कर सकें। स्वतंत्र होनेपर भी हमारी प्रादेशिक सरकारोंके पास इतनी समाई नहीं है कि इतने बड़े देशको शिक्षित करनेका बोझ अपने सिर ले सकें। राजा, रजवाड़े, भूमिपति और ताल्लुकेदार समाप्त हो गए। व्यापारी भी अनेक प्रकारके करोंके भारसे संत्रस्त हैं। उनमें इतनी उदारता नहीं बच रही है कि वे शिक्षा जैसे कार्यमें रुचिके साथ सहायता कर सकें। फिर भी स्वतंत्र देशके प्रत्येक बालकको शिक्षा पानेका अधिकार है ही और उस अधिकारसे उन्हें कोई वंचित नहीं कर सकता।

हमारी शिक्षा-प्रणाली अभीतक पाश्चात्य ढंगपर ही ढल रही है और जो नये सुधार किए भी जा रहे हैं वे भी पाश्चात्य प्रयोगोंसे कम प्रभावित नहीं हैं। इतने बड़े देशमें जितने अध्यापक अपेक्षित हैं, उतने प्राप्य नहीं हैं और जो हैं वे भी उस कैंड़ेके नहीं हैं कि बालकोंको अपने व्यक्तित्व और चरित्रसे प्रभावित कर सकें क्योंकि वे इतने अल्पवेतन, नियममें जकड़े हुए और परतन्त्र हैं कि उनमें आत्मस्फूर्त्तिका लेश नहीं रह गया है यहाँतक कि समाजमें भी उनका कोई स्थान नहीं है। सरकारके अधीन शिक्षा होनेके कारण शिक्षकके सिरपर पाठ्यक्रम और पाठ्यविषयोंका ऐसा विधान लाद दिया गया है कि अध्यापक अत्यन्त विवश और परतंत्र हो गया है। उसे अपनी ओरसे कुछ भी योग देनेकी स्वतंत्रता नहीं है। अध्यापकको

इतना कम वेतन दिया जाता है कि उसे अपने कुटुम्बका भरण-पोषण करनेके लिये दूसरे काम देखने पड़ते हैं। साप्ताहिक, मासिक, त्रैमासिक और वार्षिक परीक्षाओंके कारण उसे स्वतंत्र रूपसे सोचनेका अवकाश नहीं दिया जाता। शिक्षाके सुधार, प्रसार और संवर्धनमें उसकी बात नहीं पूछी जाती। पुस्तकोंके चयन और पाठ्य-सामग्रीके निर्वाचनमें उसका कोई हाथ नहीं रहता। शिक्षा-विधानके सैकड़ों नियमों और बंधनोंमें उसका जीवन इस प्रकार कस दिया गया है कि वह आत्मसम्मान और स्वतंत्रताका जीवन व्यतीत ही नहीं कर सकता। इन परिस्थितियोंमें पड़ी हुई हमारी शिक्षा-पद्धति किस प्रकार सशक्त और समुन्नत हो सकती है, यह एक बड़ा विचारणीय प्रश्न हमारे सम्मुख है। यद्यपि समाजके नेताओं और अध्यापकोंका यह कर्त्तव्य है कि वे अपनी स्वतंत्रताके लिये विद्रोह करें और आग्रह करें कि समाज या राज्य हमें केवल यही भर आदेश दे कि बालकको क्या बनाना चाहिए, शेष काम हम पूरा कर लेंगे। किन्तु जबतक यह संभव नहीं है तबतक हमें वर्तमान व्यवस्थाके भीतर ही ऐसे साधन निकाल लेने पड़ेंगे जिनके द्वारा हम अपने उद्देश्योंकी पूर्ति करनेमें सफल हो सकें।

अन्तःसमस्याएँ—हमारा नागरिक जीवन

हमारा वर्त्तमान नागरिक जीवन इतना बिगड़ गया है और उसमें इतने प्रकारके आकर्षण उत्पन्न हो गए हैं कि शिक्षकोंके सम्मुख केवल यही समस्या नहीं है कि वे कैसे शिक्षा दें, वरन् यह भी समस्या है कि नागरिक जीवनके विषमय प्रभावसे बालकको कैसे बचावें और दूषित बालकोंका कैसे सुधार तथा संस्कार करें। इस समय शिक्षाका सबसे बड़ा शत्रु चलचित्र या बोलपट (सिनेमा) है। जितना कुछ अध्यापक पाँच घंटेमें पढ़ाते-सिखाते हैं, वह सब ढाई घंटेके चित्रदर्शनमें धुल जाता है और उसके बदले दुर्व्यसनोंकी

एक मोटी तह वज्रलेप बनकर छात्रके हृदयपर जम जाती है। माता-पिता या अभिभावक भी मनोरंजनके इस दूषित साधनमें इतने लिप्त हैं कि वे स्वयं अपने बालकको चित्र दिखाने ले जाते हैं, बालकोंको उन चित्रोंके फूहड़ गीत सिखाते हैं और उनके मुखसे वे गीत सुनकर अपनी प्रसन्नताके द्वारा उन्हें प्रोत्साहन देते हैं। इसके अतिरिक्त हमारे दैनिक कार्यमें भी इतनी व्यस्तता आ गई है कि छात्रों और अध्यापकोंके स्वतंत्र सम्पर्कके लिये अवसर ही नहीं मिलता। इतनी विषम परिस्थितियोंमें पाठशालाका प्रबन्ध सचमुच एक जटिल समस्या है।

बाह्य समस्याएँ—सरकार और प्रबन्ध-समितियाँ

राज्य-शासनके शिक्षा-विभागोंने इन समस्याओंके अतिरिक्त कुछ बाह्य समस्याएँ भी उत्पन्न कर दी हैं। शिक्षा-विभागका एक अपना नियम-विधान (कोड) है जिसकी बहुत-सी बातें अत्यन्त प्रपंचपूर्ण, असंगत और दोषपूर्ण हैं और जिन्होंने अध्यापकोंको कम वेतन देनेके साथ-साथ उन्हें दासोंसे भी निम्नतर बना दिया है। अब केन्द्रीय भारत सरकारने अध्यापकोंको अधिक वेतन देनेकी व्यवस्था करनेका आदेश प्रान्तीय सरकारोंको दिया है और अपने अधिकारोंके प्रति अध्यापक भी कुछ-कुछ चेतन तथा सजग हो चले हैं। इसके अतिरिक्त हमारे शिक्षा-विभाग, एक निरीक्षक भेजने तथा कुछ आर्थिक सहायता देनेके अतिरिक्त, कोई योग नहीं देते। वे नियम और पाठ्यक्रम बनाते हैं, पाठ्य पुस्तकें चुनते हैं और परीक्षा लेते हैं किन्तु छात्र कैसे मनुष्य बनें इसके लिये कोई यत्न नहीं करते। वे उतनी निष्ठाके साथ विद्यालयकी उन्नतिमें योग नहीं देते जितना उन्हें देना चाहिए।

हमारे विद्यालयोंकी प्रबन्ध-कारिणी समितियोंमें अनेक बुद्धि, रुचि और व्यवसायके लोगोंका ऐसा चोंचोंका मुरब्बा एकत्र हो गया है जो शिक्षाशास्त्रका क ख ग नहीं जानते और जो व्यक्तिगत

स्वार्थ-साधनके लिये दलबन्दी तथा गुटबन्दी करके विद्यालयको अशान्त बनाए रखते हैं।

अभिभावक

छात्रोंके अभिभावक अपना बालक विद्यालयको सौंपकर निश्चिन्त हो जाते हैं। वे न तो उससे अधिक कोई सहयोग देते ही हैं, न देना ही चाहते हैं, न उन्हें देनेकी योग्यता ही है। हाँ, यदि उनका पुत्र या अभिभावित छात्र अनुत्तीर्ण हो जाय तो वे चरण-चुम्बनसे लेकर असि-प्रहारतक सब कुकांड अत्यन्त संलग्नताके साथ कर सकते हैं।

अध्यापक और समाज

हमारे दरिद्र अध्यापकोंका समाजमें न कोई सम्मान है न आदर। अपनी साधनहीनताके कारण न वे अपनी ही ठीक उन्नति कर पाते हैं न अपने छात्रोंकी। समाजके नेतागण राजनीतिमें इतने उलझे रहते हैं कि उन्हें विद्यालयके विकासमें न रुचि रह गई है न प्रवृत्ति। नये-नये विधानोंने धनिकोंको भी इतना त्रस्त कर दिया है कि लोकहितके कार्योंके लिये उनमें कोई उत्साह नहीं बचा रह गया है। इतनी बाधाओं और जटिलताओंकी भँवरमें विद्यालयकी नाव खे लेजाना साधारण धैर्य, साहस और कौशलकी बात नहीं है। इसके लिये वास्तवमें घर, समाज, सरकार और विद्यालय, चारोंका परस्पर सहयोग आवश्यक है।

२

विद्यालय-भवन

पाठशालाका उद्देश्य

पाठशालाको केवल पढ़नेका स्थान मात्र नहीं समझना चाहिए। पाठशाला ऐसा केन्द्र होना चाहिए जिसे बालक अपना घर, खेलनेकी भूमि, पुस्तकालय, बातचीत करनेकी चौपाल, अपनी कुतूहल-निवृत्तिकी प्रयोगशाला और अपने हाथ-पैर तथा अंगोंके संचालन और पोषणका अखाड़ा मानें अर्थात् बालकोंका गाँव, नगर, समाज, राष्ट्र, घर, मल्लशाला, सब कुछ पाठशाला हो। जब बालक वहाँसे निकलकर जीवनमें प्रवेश करे तब वह यह न समझे कि हम किसी नये संसारमें आ गए हैं या किसी अपरिचित स्थलमें पहुँच गए हैं। पाठशालासे समाजमें पदार्पण करते ही वह अपना स्थान ढूँढ़कर उसमें ठीक इस प्रकार जमकर बैठ जाय जैसे चौखटमें किवाड़की चूल बैठती है।

विद्यालयका स्थान तथा परिक्षेत्र

यह स्मरण रखना चाहिए कि स्वच्छता, स्वस्थता और सुन्दरता तीनों एकप्राण सखियाँ हैं। इनमेंसे एक भी गई कि शेष स्वयं लुप्त हो जायँगी। इसलिये विद्यालयके निर्माणमें इन तीनोंका स्थिर योग आवश्यक है।

स्थान

अतः पाठशालाके लिये आदर्श और उपयुक्त स्थल यह है कि गाँव, नगर या बस्तीसे बाहर खुले मैदानमें वन, उपवन या अमराईके

बीच विद्यालय बना हो। उसमें बहुत तड़क-भड़क न हो। ऊँचे-ऊँचे बाँसोंपर टट्टरोंसे वह छाया हुआ हो, जिसमें धूप-वर्षासे रक्षा हो सके। गर्मीके दिनोंमें वृक्षोंके नीचे और जाड़में खुली धूपमें या हरी घासपर बैठकर ही पढ़ाई हो। नदीके पास, कमल या कांईसे भरे लम्बे-चौड़े तालके छोरपर, पर्वतकी गोदमें, घाटीमें या झरनेके किनारे विद्यालयकी झोपड़ियाँ बनी हों, जिनमें सभी अध्यापक और छात्र एक परिवारके समान रहते हों। किन्तु यदि ऐसा स्थान संभव न हो—नगरके विद्यालयोंके लिये संभव है भी नहीं—तो इतना अवश्य हो कि जिस भवनमें बालक पढ़ाए जाते हों उसमें स्वच्छ वायु और सीधा प्रकाश आनेके लिये पूरी सुविधा हो जिससे बालकोंको बाईं ओरसे खुला प्रकाश मिले और आरपार बहता हुआ स्वच्छ पवन मिले। उन्नीसवीं सदीतक विद्यालय-भवनके निर्माणके संबंधमें जो धारणाएँ थीं वे अब पूर्णतः बदल गई हैं। अब तो यह माना जाता है कि अधिकसे अधिक निर्बाध सीधा खुला प्रकाश और आरपार बहनेवाला शुद्ध पवन छात्रोंको निरन्तर मिलता रहना चाहिए।

परिक्षेत्र

विद्यालयके चारों ओर या बीचमें इतना मैदान हो कि अवकाशके समय उसमें छात्र खेल-कूद सकें। विद्यालयके आसपास या विद्यालयकी दीवारोंपर फूल-पत्ते या बेल-बूटे लगाए गए हों, जिससे विद्यालय हँसता हुआ दिखाई पड़े, पर इतने घने भी न हों कि मच्छर और कीड़े सबको कष्ट दें।

विद्यालय-भवन

आजके विद्यालय-भवनोंकी रूपरेखा उन्नीसवीं शताब्दीके भवनोंसे नितान्त भिन्न है। अब तो शिक्षाशास्त्रियोंकी यह धारणा

है कि शिक्षाकालमें छात्रोंके स्वास्थ्य और सुखका ध्यान ही भवननिर्माणमें सबसे महत्त्वकी बात है। इसलिये नवीनतम भवन-योजनाओंमें यह ध्यान किया जाता है कि सुखप्रद परिक्षेत्रमें छात्रोंको अधिकतम प्रकाश और निरन्तर प्रवाहित स्वच्छ वायु मिलता रहे। इसलिये नवीन योजनाओंमें सभाभवनसे सटे हुए कक्षाप्रकोष्ठ नहीं बनाए जाते। सब कक्षाप्रकोष्ठ उस ओरसे पूरे खुले हुए
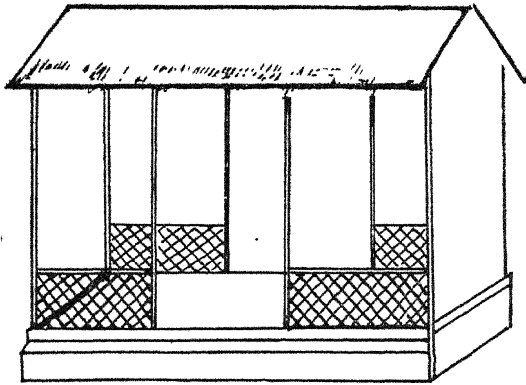
[नई शैलीके खुले आदर्श प्रकोष्ठ]

रहते हैं जिधरसे वायुका स्वच्छन्द आवागमन हो और दिनके सब भागोंमें समान रूपसे प्रकाश मिलता रहे। आजकल दोपहरमें अध्ययन स्थगित करनेका एक यह भी कारण है कि सिरपर धूप आजानेसे कक्षाओंमें स्वाभाविक अंधकार होजाता है। साथ ही दिनचर्या-विधानमें भी यह ध्यान रक्खा जाता है कि लिखनेका काम दिनके उस भागमें रक्खा जाय जब प्रकाश बाईं ओरसे मिल सके।

बन्द और खुली शैलीके भवन

यूरोपीय तथा अमरीकी शिक्षा-शिल्पियोंने विद्यालय-भवनके लिये दो रूप निर्धारित किए हैं—एक बन्द शैलीके, दूसरे खुले शैलीके। बन्द शैलीके भवन या तो (क) ठोस चौकोर होते हैं, या (ख) बीचमेंसे खुले चौकोर, या (ग) ऐसे चौकोर जिसमें आगे निकला हुआ सभाभवन और चौक हो।
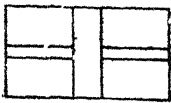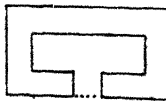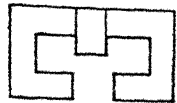
[क] [ख] [ग]

खुले भवन निम्नलिखित अंग्रेजी अक्षरोंके आकारके होते हैं—

I T U E और H

इनमेंसे किसी भी रूपको स्वीकार करते हुए क्रमिक महत्ताकी दृष्टिसे निम्नलिखित बातोंका ध्यान रखना चाहिए—

१—पूर्वाभिमुख हो और पूर्वका प्रकाश मिल सके।

२—सब कक्षोंमें नैसर्गिक प्रकाश और स्वच्छ वायुका निर्बाध आवागमन हो।

३—उचित लंबा-चौड़ा हो।

४—आवश्यकता पड़नेपर बढ़ाया-घटाया जा सके।

५—खुले गलियारे उस ओर हों जिधरसे प्रकाश न लेना हो अर्थात् पश्चिममें।

६—उचित देखभाल कर सकनेकी सुविधा हो।

७—नीचे-ऊपर चढ़ने-उतरनेका काम कमसे कम हो। जहाँतक संभव हो विद्यालयके भवन एक खंडके होने चाहिएँ।
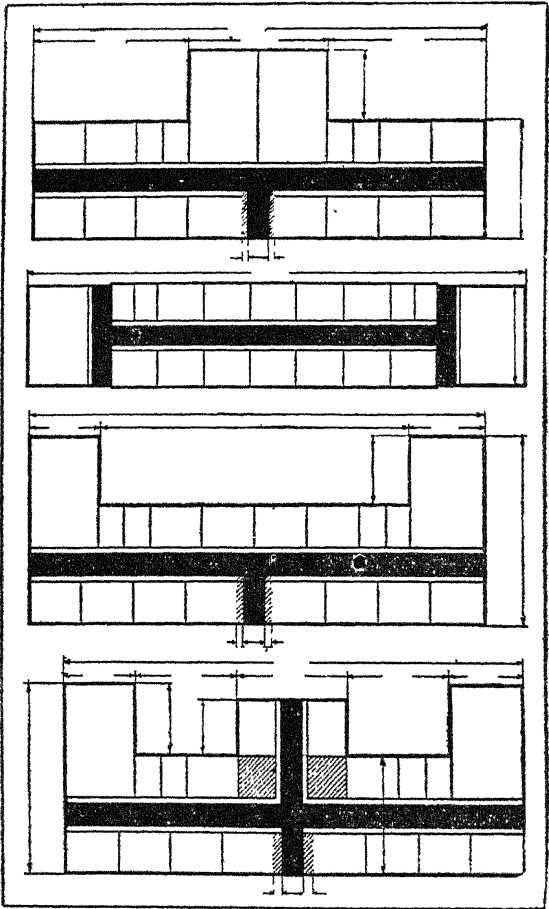
ऊपरसे नीचे क्रमशः T. I. U. तथा E आकारके विद्यालय-भवनोंके मानचित्र

इनमेंसे U आकारमें समान रूपसे तीनों ओर कक्षाएँ बनी होती हैं और बीचमें नीचे सभा-भवन होता है। E रूपमें बीचकी रेखामें सभाभवन बना दिया जाता है और सभा-भवनके छोरपर दो प्रकोष्ठोंमें आचार्य-भवन और कार्यालयका प्रकोष्ठ होता है। दोनों भुजाओंके छोरोंपर एक ओर चित्रकलाका प्रकोष्ठ और दूसरी ओर भूगोलका प्रकोष्ठ होता है। विज्ञानके लिये भवन अलग होना चाहिए और यथासंभव पुस्तकालय, वाचनालय और व्यायामशालाके लिये अलग भवन होने चाहिएँ किन्तु यदि यह संभव न हो तो पुस्तकालय और वाचनालय सभा-भवनमें भी स्थापित किए जा सकते हैं।

अगले पृष्ठपर जूनियर हाईस्कूल, लौंगमीडो, मास, (अमरीका) का चित्र दिया गया है जो U आकारमें बना हुआ है। इसमें तीन सौ विद्यार्थियोंके लिये व्यवस्था की गई है। इसमें एक सभाभवन और व्यायामशाला इस प्रकार मिले हुए हैं कि सब छात्र एक साथ आ सकें। सभाभवनके एक ओर सरकौआ द्वारोंसे बन्द रंगमंच है। जब यह बन्द हो जाता है तब रंगमंचका प्रयोग गार्हस्थ्य कलाओंके लिये किया जाता है। भवनके साथ छोटे-छोटे कमरे हैं जिनमें सभा-भवनकी सब कुर्सियाँ हटाकर रख दी जाती हैं जिससे उसका प्रयोग व्यायामके लिये भी किया जा सके। पीछेकी ओर एक बड़ा प्रकोष्ठ विद्यायलकी दूकानके लिये है उसके ऊपर दूसरे खण्डमें गार्हस्थ्य-विज्ञानके लिये कमरे हैं। दूसरे खण्डपर प्रकाशदार छतवाला पुस्तकालय है। वहीं अध्यपक-कक्ष, विज्ञान, प्रबन्ध-विभाग तथा चिकित्सालय आदिकी भी व्यवस्था है। साधारणतः E आकारके भवन आजकल अधिक काममें लाए जाते हैं। कैलिफोर्नियामें स्वच्छ वायु-विद्यालय-सिद्धान्त [फ्रेश एअर स्कूल थिअरी] के अनुसार अधिक स्वच्छ-वायु-विद्यालय चल पड़े हैं।

बीसवीं शताब्दीके पहले यह माना जाता था कि विद्यालयोंमें
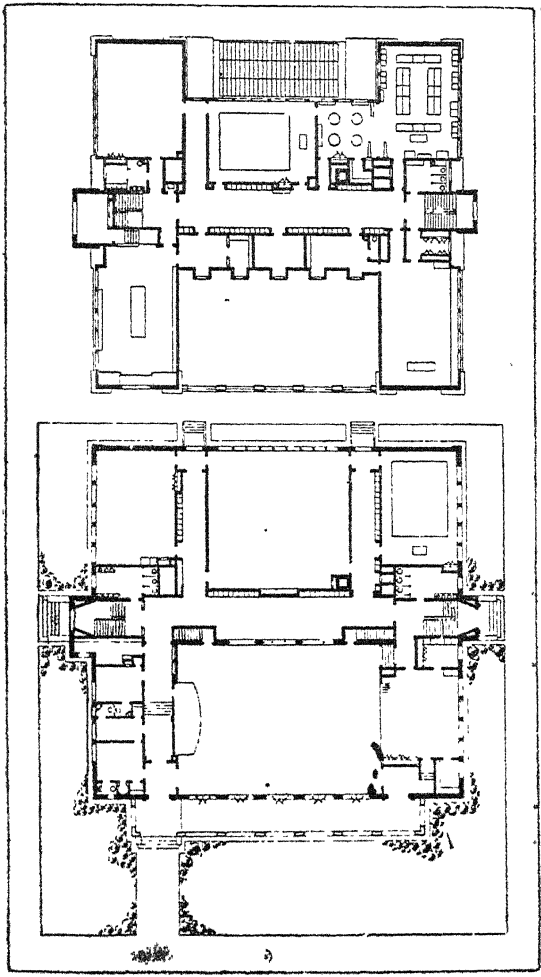
छात्रोंको धुआँधार पढ़ाकर जैसे बने वैसे उनकी बुद्धिमें बलपूर्वक ठूँस-ठूँसकर ज्ञान भर दिया जाय और इस ज्ञानका बहुत-सा अंश उन्हें रटवाकर कंठस्थ करा दिया जाय। इस प्रयोगमें इस बातका तनिक भी ध्यान नहीं रक्खा जाता था कि छात्र स्वस्थ रहेंगे या अस्वस्थ, सरोग रहेंगे या नीरोग। किन्तु पिछले दिनोंमें यह बात व्यापक रूपसे अनुभव की गई कि छात्रोंके स्वास्थ्यका भी विशेष ध्यान रक्खा जाय। यद्यपि इस सम्बन्धमें जापानमें छात्रोंके स्वास्थ्यका पहलेसे ही ध्यान रक्खा जाता रहा है किन्तु राज्यकी ओरसे स्वास्थ्य-विचारका व्यवस्थित रूप संयुक्त राज्य अमेरिकामें ही स्थित हो सका है। यद्यपि विद्यालयका स्वास्थ्य और शारीरिक शिक्षण परस्पर सम्बद्ध हैं फिर भी इन दोनों विषयोंपर अलग-अलग विचार करना ही समीचीन होगा।

विद्यालयका स्वास्थ्य

विद्यालयका स्वास्थ्य-रक्षण चार दृष्टियोंसे व्यवस्थित किया ताजा है—

१. विद्यालय-भवनके प्रकोष्ठों तथा विद्यालय-भूमिकी स्वच्छता और स्वस्थता।
२. छात्रोंकी स्वस्थता, जिसके अन्तर्गत छूत तथा अन्य रोगोंसे बचाव, शारीरिक तथा मानसिक स्वास्थ्य-परीक्षा, शारीरिक दोषोंका निराकरण और उपचार तथा स्वस्थ अभ्यासोंके विकासके लिये नियमित शिक्षा।
३. अध्यापकोंकी स्वस्थता।
४. विद्यालय-शिक्षामें स्वस्थता, जिसके साथ मानसिक स्वस्थताका भी संयोग है।

भवन-स्वस्थता

विद्यालय-भवनको उस कार्यशालाके समान समझना चाहिए

जिसमें मस्तिष्कसे कार्य करनेवाले अङ्गोंका उत्पादन होता है। किस कलासे विद्यालय बनाया जाय इसका उतना महत्त्व नहीं है जितना इस बातका कि जिस प्रकोष्ठमें छात्र अध्ययन करें उसमें साधारण छात्रकी श्रवण-शक्ति तथा नेत्र-शक्तिकी सीमाओंका ध्यान रखकर उसे स्वस्थ वातावरणमें बैठने, साँस लेने और सोचकर काम करनेका उचित प्रबन्ध हो। अनेक प्रकारके वैज्ञानिक अनुसंधानों और अध्ययनोंके पश्चात् विद्यालय-भवनों और उनके प्रकोष्ठोंके आकार-प्रकार, प्रकाश-व्यवस्था, वायु-संचरण, भीतों और श्यामपट्टोंके रंग, पुस्तकाधारों-की ऊँचाई तथा ढाल आदि सबके रूप स्थिर किए जा चुके हैं, जिनका विवरण हम यथास्थान दे रहे हैं।

भवन-निर्माणकी नवीन पद्धति

हमारे देशमें बहुत कम ऐसे विद्यालय हैं जिनमें इस प्रकारके स्वास्थ्यपूर्ण भवनोंका विधान हो। प्रायः अधिकांश प्राचीन ढंगके भवन इस प्रकार बने हैं कि उनमें न तो प्रकाश ही खुलकर पहुँचता है और न वायुका ही उचित संचरण होता है। सन् १९२५ में संयुक्त-राज्य अमेरिकाके राष्ट्रीय शिक्षासंघ (नेशनल एजुकेशन एसोसिएशन) ने विद्यालय-भवन-निर्माणके विषयमें जो समिति स्थापित की थी उसने अपने विवरणमें विस्तारसे विद्यालय-भवनकी आवश्यकताओंका पूर्ण वैज्ञानिक विवरण दिया है जिसमें प्रकोष्ठोंकी लम्बाई, चौड़ाई, ऊँचाई, खिड़की, द्वार, गलियारा, सीढ़ी सभीपर विचार किया गया है। उनके अनुसार विद्यालय-भवनमें केवल एक ओर-से प्रकाश आना चाहिए जिसकी परिधि प्रकोष्ठकी भूमि-सीमासे बीस प्रतिशत अवश्य हो अर्थात् यदि प्रकोष्ठकी लम्बाई-चौड़ाई १०० वर्ग फ़ीट हो तो २० वर्ग फीट भाग पूर्वकी दीवारमें खुला या काँचसे ढँका होना चाहिए। यदि कृत्रिम प्रकाश देना हो तो वह भी छात्रोंके बाईं ओरसे इतना देना चाहिए कि छात्रोंको पुस्तकोंके

अक्षर पढ़नेमें अधिक नेत्र-श्रम न करना पड़े और उसकी व्यवस्था इस प्रकार की जाय कि वह छाया न डाले, छतसे प्रत्यालोकित होकर आवे। इसके साथ-साथ यह भी विधान किया गया है कि प्रत्येक खण्डमें अलग-अलग मार्जन-शाला (शौचालय) हो, अग्निकाण्डके लिये आगकी घंटी हो, उतरने और चढ़नेके लिये अलग-अलग चौड़ी सीढ़ियाँ हों और प्रकोष्ठोंके बीच इस प्रकारका पर्दा दिया जाय कि आवश्यकता पड़नेपर प्रकोष्ठ छोटे-बड़े किए जा सकें। कुछ विद्यालयोंमें तो सभा-भवन ही इस प्रकारके बनाए गए हैं कि उनमें कक्षाएँ भी लगती हैं और अवसर पड़नेपर बीचके परदे निकालकर पूरा सभा-भवन भी बन जाता है। इन नये विद्यालयोंमें रेडियो सुनने, नाटक खेलने तथा चल-चित्र दिखानेकी भी योजना सरलतासे की जा सकती है। कुछ विद्यालयोंमें आचार्यके कक्षमें ध्वनि-यंत्र (माइक्रोफोन) लगा रहता है जिसका सम्बन्ध प्रत्येक कक्षाके ध्वनिविस्तारकसे जुड़ा रहता है और इस प्रकार आचार्य जब चाहे तब अपने कार्यालयमें बैठे-बैठे विद्यालय भरके छात्रोंको एक साथ सम्बोधित कर सकता है। इस व्यवस्थासे सभा-भवन बनानेकी झंझट दूर हो जाती है और छात्रोंके आवागमनका हो-हल्ला भी समाप्त हो जाता है। इन शिक्षा-शास्त्रियोंने यह भी कहा है कि प्रत्येक छात्रको एक-एक अलग-अलग पुस्तकाधार (डेस्क) देनेकी आवश्यकता नहीं है क्योंकि इससे बहुत जगह घिरती है। इस प्रकार विद्यालयके भवन-निर्माणके सम्बन्धमें बहुत-सी नई-नई व्यवस्थाएँ की जा रही हैं।

भवनके कक्ष

विद्यालय-भवनमें निम्नलिखित प्रकोष्ठोंकी सुविधा होनी चाहिए-

१—आचार्य-कक्ष (प्रिंसिपल्स रूम)

२—कार्यालय (ऑफिस)

३—अध्यापक-कक्ष (टीचर्स रूम)

४—छात्रा-कक्ष (लेडीज़ रूम), जहाँ सहशिक्षा हो।
५—पुस्तकालय तथा वाचनालय (लाइब्रेरी ऐंड रीडिंग रूम)
६—सभाभवन (हौल)
७—कक्षा-प्रकोष्ठ (क्लास-रूम्स), जितने आवश्यक हों।
८—विशेष कक्ष (स्पेशल क्लास-रूम्स), इतिहास, भूगोल, चित्रकला, संगीत, हस्तकौशल, विज्ञान, गृहशास्त्र आदिके लिये।
९—व्यायामशाला, खेलकक्ष तथा तात्कालिक चिकित्साकक्ष (जिमनेज़ियम, गेम्स-रूम तथा मैडिकल एड सेंटर)
१०—भांडार (गोदाम)
११—जलपानघर (रेस्तराँ)
१२—जलागार
१३—शौचालय
१४—विक्रय-भंडार (विद्यालयकी दूकान)

रंग और झरोखे

न चमकनेवाले बहुत हल्के नीले, हरे, पीले, या नारंगिया रंगसे विद्यालय की बाहरी भीतें रँगी हुई हों, जिससे बहुत धूपमें चमककर बालकोंकी आँखें न चौंधिआएँ। द्वारोंके ऊपर खिड़कियाँ या पल्लेदार झरोखे बने हों जिनमें काँच या जालीकी भरत हो, जिससे द्वार बन्द करनेपर भी प्रकाश बना रहे। प्रकोष्ठोंकी भीतरी दीवारें श्वेत चूनेसे पुती हुई होनी चाहिएँ जिससे कक्षाके प्रकाश-वर्धनमें सहायता मिलती रहे।

कक्षा

प्रत्येक कक्षाकी लम्बाई-चौड़ाई इतनी हो कि प्रत्येक विद्यार्थीको कमसे कम पन्द्रह वर्ग फ़ुट स्थान मिले, दो-दो विद्यार्थियोंकी पंक्तिके बीचमें डेढ़ फ़ुटकी छूट हो, अध्यापकको इधरसे उधर तक जाने तथा श्यामपट्टपर लिखनेकी सुविधा हो अर्थात् लगभग ३० विद्यार्थियोंकी

कक्षाके लिये १८ फुट चौड़ा, २५ फुट लम्बा और १६ फुट ऊँचा कक्ष होना चाहिए। कक्षाके द्वार ६ से ७ फुट तक ऊँचे तथा ४ फुट चौड़े होने चाहिएँ और अधिकसे अधिक खिड़कियाँ दीवारमें इस प्रकार लगाई जायँ कि पूर्व-पच्छिम दोनों ओरसे प्रकाश और पवनका निर्बाध प्रसार हो। छतसे नीचे पूर्व और पश्चिमकी ओर इतने ढलवाँ झरोखे हों कि खुलकर प्रकाश आ सके।

खुली कक्षा

आदर्श परिस्थिति तो यह है कि जहाँतक संभव हो, वहाँतक अध्यापक लोग बाहर खुले वायुमें पढ़ाया करें। हाँ, वर्षा या गर्मीमें भवनोंका आश्रय अवश्य लेना चाहिए किन्तु यह सदा ध्यान रखना चाहिए कि यदि कक्षाके भीतर अँधेरा हो और छात्रोंकी, आँखोंको पुस्तक पढ़ने या लिखनेमें परिश्रम पड़ता हो तो उन कक्षाओंमें उस समय पढ़ने-लिखनेका कार्य नहीं कराना चाहिए।

कक्षाके बाहर

प्रत्येक कक्षाके द्वारपर जालीदार पायपोंछन हों जिनपर जूते या पैर पोंछकर छात्र भीतर आवें। दीवारोंपर महापुरुषोंके चित्र या सूक्तियाँ अंकित होनी चाहिएँ। प्रत्येक कक्षाके बाहर उस कक्षाके विद्यार्थियोंकी पूरी सूची टँगी रहनी चाहिए और उसके आगे उसी सूचीके बराबर लम्बा स्लेटका टुकड़ा लगा रहना चाहिए जिसपर छात्रोंकी नित्यकी उपस्थिति अंकित हो।

श्यामपट्ट

कक्षाके भीतर ऐसे स्थानपर श्यामपट्ट होना चाहिए जहाँसे वह कक्षाके सब विद्यार्थियोंको दिखाई दे सके और वह रूखे काले रंगमें रँगा हुआ होना चाहिए। आजकल चार प्रकारके श्यामपट्टोंका प्रयोग संसार भरके विद्यालयोंमें हो रहा है—

[चित्र १]
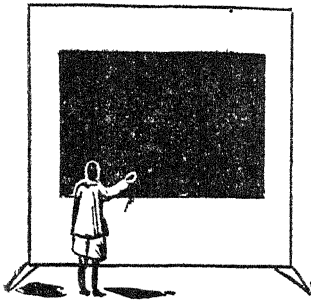
क—दीवारपर सीमेंट करके तारकोल या रूखी स्याही पोतकर बनाए हुए श्यामपट्ट। दो प्रकारसे बनाए जाते हैं—एक तो सीधे-सपाट, और दूसरे ढलवाँ। ये ढलवाँ भी एक तो ऐस होते हैं कि ऊपरसे आगेको निकले हुए और दूसरे, धनुपके समान भीतरको गोलाई देकर बनाए हुए। इन में चमक नहीं पड़ती। [देखो चित्र १]
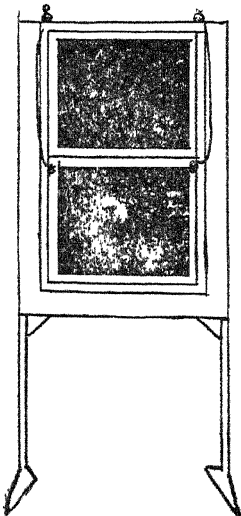
[चित्र २]

ख—सरकौवा दुहरे श्यामपट्ट,तार या डोरीसे ऊपर-नीचे सरकाए जा सकते हैं। ये श्यामपट्ट तनिक आगे-पीछे इस प्रकार ऊपर-नीचे लटके रहते हैं कि नीचेवाले श्यामपट्टको तनिक-ऊपरको झटका दिया जाय तो वह स्वयं ऊपर उठ जाता है और ऊपरवाला अपने बोझके कारण नीचे झूल आता है। इस प्रकारके श्यामपट्ट गणित-शिक्षण-के लिये अधिक उपयुक्त होते हैं।
[देखो चित्र २]

[चित्र ३]
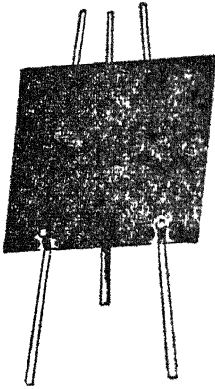
[चित्र ४]
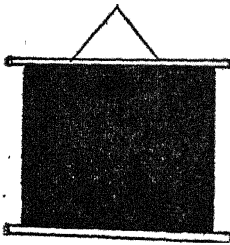
ग—तिपाई या लकड़ीके तिपायेपर रक्खे जा सकनेवाले उठौवा श्यामपट्टोंका प्रचलन सबसे अधिक है किन्तु इसमें अधिक टूट-फूट होती है, पाया भी उन्हींमें जाता है क्योंकि कभी-कभी ये [illegible] भी सहा करते हैं और निर्दयता तथा असावधानीके साथ इधर-उधर लाए-ले जाए भी जाते हैं। [देखो चित्र ३]

घ—लपेटौआ (रोल अप ब्लैक-बोर्ड), किरमिचपर रंग पोतकर बनाया जाता है और मानचित्रोंके समान लपेटा जा सकता है। ये श्यामपट्ट हरे, [illegible] और नीले रंगमें भी मिलते हैं। [देखो चित्र ४]

श्यामपट्टोंकी तुलना

सुविधा तथा मितव्ययताकी दृष्टिसे भित्ति-पट्ट (क) सबसे अच्छे होते हैं किन्तु जब उनका रंग धुँधला पड़ जाता है, या मिटने लगता तब उनकी कुरूपतासे कक्षा असुन्दर लगने लगती है और छात्र-गण भी उसपर अंड-बंड लिखकर या खरोंच डालकर उसे बिगाड़ते रहते हैं। सरकौआ या दुहरे श्यामपट्ट (ख) आजकल विश्वविद्यालयोंमें प्रायः

गणितकी कक्षाओंमें प्रयुक्त होते हैं जहाँ लम्बे प्रश्नोंका प्रस्तार करना पड़ता है। ये श्यामपट्ट भी दो प्रकारके होते हैं—एक तो भीतके सहारे बनी हुई घिर्रियोंपर चढ़ाए-उतारे जाते हैं और दूसरे अलग लकड़ीके ढाँचेपर घिर्री लगाकर नीचे-ऊपर सरकाए जाते हैं। उठौवा और लपटौआ श्यामपट्ट (ग, घ) अच्छे होते हैं क्योंकि उन्हें कक्षाकी सुविधाके अनुसार चाहे जिधर ले जाया जा सकता है, चाहे जिधर प्रकाशकी सुविधाके अनुसार घुमाया जा सकता है और चाहे जितना ऊपर-नीचे किया जा सकता है। उठौवामें सबसे बड़ा लाभ यह है कि उसके दोनों पीठोंका प्रयोग किया जा सकता है।

श्यामपट्टके गुण

इसमें विचारणीय बात यही है कि एक तो श्यामपट्ट चमकने वाला न हो; दूसरे, वह कक्षामें सब ओर दृष्टिगत हो; तीसरे, इतना ही ऊँचा हो कि अध्यापकका हाथ उसके ऊपरके भागतक पहुँच सके; और चौथे, इतना लम्बा भी हो कि उसपर पर्याप्त लिखा जा सके। श्यामपट्टकी आदर्श लम्बाई चौड़ाई ६'×४' फुट है। इससे छोटा या बड़ा अनुचित है।

प्रत्येक श्यामपट्टके साथ भीगा हुआ कपड़ा रहना चाहिए, जिससे श्यामपट्ट पोंछा जा सके अन्यथा सूखे कपड़ेसे पोंछनेमें खड़ियाके परमाणु उड़कर अध्यापकका स्वास्थ्य बिगाड़ सकते हैं। इन श्यामपट्टोंको समय-समयपर रूखे काले रंगसे रँगवाते रहना चाहिए। छोटे बालकोंके लिये नीले, बैंगनी और हरे रंगोंमें भी पट्ट रँगे जा सकते हैं पर उनमें चमक नहीं होनी चाहिए।

भंडारी (अलमारी)

कक्षामें ही एक ऐसी भंडारी होनी चाहिए जिसमें बालकोंकी

अभ्यास-पुस्तिकाएँ, लेखनी, मसीपात्र, अंजनी (पेंसिल) आदि रक्खी जा सकें। आदर्श कर्त्तव्य तो यह है कि छात्रोंकी सब पुस्तकें, लिखने-पढ़नेका सब सामान कक्षामें ही रहे। विद्यार्थी केवल उतनी ही पुस्तकें घर लावें-ले जावें जिनका प्रयोजन घर पढ़नेके लिये हो। कलम, पेंसिल, रबड़ आदि सब उसी भंडारीमें ही रक्खे रहें और नित्य निकालकर विद्यार्थियोंको दे दिए जाएँ। यह भंडारी दीवारमें ही बनी हो जिससे व्यय भी कम हो और स्थान भी न घिरे।

विशेष विषयोंकी कक्षाएँ

विभिन्न कक्षाओंके अतिरिक्त कुछ विशेष विषयोंकी कक्षाएँ होती हैं जैसे भूगोल, इतिहास, विज्ञान, चित्रकला, गार्हस्थ्य अथवा हस्त-कौशल-की। भूगोलकी कक्षामें विभिन्न देशोंके मानचित्र, निर्देश-दंड, पृथ्वीका गोला, विभिन्न देशोंके मनुष्यों तथा उनके रहन-सहन-संबंधी चित्र, रेखा-चित्र तथा भूगोल-संबंधी सब वस्तुएँ एक क्रमसे सुसज्जित करके रक्खी होनी चाहिएँ जिससे बालक तथा अध्यापक उनका ठीक-ठीक उपयोग कर सकें। इसी प्रकार इतिहासकी कक्षामें विभिन्न देशोंके ऐतिहासिक मानचित्र, ऐतिहासिक महापुरुषोंके चित्र, तिथि-सरणियाँ, प्राचीन मुद्राएँ, संसारके ऐतिहासिक स्थानोंकी प्रतिकृति आदि यथास्थान सुरक्षित होनी चाहिएँ। विज्ञानकी कक्षामें वैज्ञानिकोंके चित्र, वैज्ञानिक यंत्र और सामग्री यथाक्रम रक्खी होनी चाहिए। हस्त-कौशलकी कक्षामें सब यंत्र, उपकरण आदि सजाए होने चाहिएँ। चित्रकलाकी कक्षामें रंग, तूलिका, मानचित्र, प्रतिकृति आदि सब वस्तुएँ यथास्थान सुरक्षित होनी चाहिएँ और गार्हस्थ्य-शास्त्रकी कक्षामें शरीरविज्ञान, स्वास्थ्य-विज्ञान-संबंधी चित्र तथा प्रतिकृति आदि और सिलाईके यन्त्र उचित स्थानपर रक्खे होने चाहिएँ। इन विशेष प्रकारकी कक्षाओंके निर्माणमें प्रकाश, वायु, द्वार आदिका विशेष ध्यान रखना चाहिए।

पीठासन और पुस्तकाधार

[चित्र ५]

प्रत्येक कक्षामें छात्रोंके बैठनेके लिये पीठासन (कुर्सी) और पुस्तकाधार (डेस्क) स्वच्छ, चिकने, चमकते हुए और धूलिरहित होने चाहिएँ। छात्रोंके लिये लकड़ीके ऐसे पीठासन होने चाहिएँ जिनपर वे कमर सीधी करके बैठ सकें। पीठासनोंके पीठ इस प्रकार बनने चाहिएँ कि उनपर पीठ टेकनेपर रीढ़की हड्डी और पीठ आसनोंसे १५° से अधिक न झुके। [देखो चित्र ५]
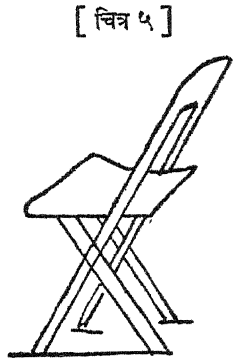
उनके आगे पुस्तकाधार इस प्रकार ढलुए और इतने ऊँचे होने चाहिएँ कि उनपर रक्खी हुई पुस्तक बालककी आँखसे एक फुटसे कम या अधिक न हो। [देखो चित्र ६ और ७]

[चित्र ६]
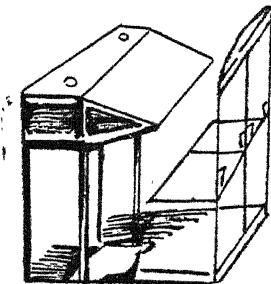
[ठीक बनावटका दुहरा पुस्तकाधार और पीठासन मिश्रित]

[चित्र ७]

[ठीक बनावटके पुस्तकाधारके साथ बैठनेका ठीक ढंग]

घुटनाटेक प्रणाली

इस प्रकारके पीठासन गाँवकी पाठशालाओंमें संभव नहीं हैं। इसलिये यदि बालकोंको टाटपर बैठाया जाय तो उनके आगे या तो ढलुआ चौकियाँ हों जिनपर पुस्तक रखकर वे सीधे बैठकर लिख-पढ़ सकें या अपनी प्राचीन घुटनाटेक (पातित वाम-जानु) प्रणाली का ही अनुसरण करें अर्थात् बायाँ घुटना मारकर दाएँ घुटनेपर पुस्तक रखकर पढ़ें और लिखें। [देखो चित्र ८] पुस्तकाधारोंमें दाईं ओर मसीपात्र रखनेका ऐसा छिद्र होना चाहिए जिसमें मसीपात्र बैठ जाय और उसकी मसि बिखरे नहीं। जुड़वाँ पुस्तकाधारोंमें एक बीचमें और एक दाईं ओर मसीपात्र रखनेका प्रबन्ध होना चाहिए। स्याही रखनेकी खाँची इस प्रकार बनानी चाहिए कि उसमेंसे यदि स्याही गिर भी पड़े तो छात्रकी ओर न आवे, दूसरी ओर बह जाय। छोटी कक्षाओंमें विद्यार्थियोंमें मसी-द्वारा नहीं लिखवाना चाहिए, अन्यथा छात्र नित्य होली खेलते हैं और अपने कपड़ों तथा उँगलियोंके साथ-साथ पुस्तकाधार, पीठासन, धरती, दीवार सब रँग देते हैं। अच्छा तो यह है कि स्लेट-पत्थरके ही पुस्तकाधार बनाए जाएँ।

[चित्र ८]

मध्यम मार्ग

यदि विद्यालयके प्रबन्धकोंके पास पर्याप्त धन हो तो इकहरे पुस्तकाधार सर्वश्रेष्ठ हैं जिनपर एक छात्र बैठ सकता हो, किन्तु ऐसे पुस्तकाधारोंमें द्रव्य भी अधिक लगता है और वह स्थान भी

अधिक घेरता है। पाँच विद्यार्थियोंके लिये बने हुए पुस्तकाधारका भी कहीं-कहीं चलन है जिसके साथ पाँच छात्रोंके लिये एक लंबी पीठिका (बेंच) लगा दी जाती है, किन्तु दुहरे पुस्तकाधारोंका मध्यम-मार्ग सर्वश्रेष्ठ है। बिना पीठके पीठासन विद्यालयमें कभी नहीं रखने चाहिएँ क्योंकि इससे पीठ झुकाकर बैठनेका अभ्यास पड़ जाता है।

पीठासनके नियम

इंगलैण्डके शिक्षा-विभागने पीठासनोंके संबंधमें निम्नलिखित आदेश दे रक्खे हैं—

(१) सब पीठासनोंमें पीठ लगी होनी चाहिए।

(२) सभी पुस्तकाधार खिड़कीवाली दीवारके समकोण लगे होने चाहिएँ।

(३) उनकी ऊँचाई बालकोंकी अवस्था और ऊँचाईके अनुकूल होनी चाहिए।

(४) प्रत्येक विद्यार्थीको कमसे कम १५ वर्ग फीट बैठनेका स्थान होना चाहिए और प्रत्येक दो पुस्तकाधारोंके बीच १८ इंचका अन्तर होना चाहिए। दीवार और पुस्तकाधारके बीच भी १८ इंचका अन्तर होना चाहिए।

(५) न तो पुस्तकाधारोंकी छःसे अधिक पंक्तियाँ हों न लम्बाई १२ फीटसे अधिक हो।

(६) प्रत्येक पुस्तकाधारके पीछे और बीचमें अध्यापकके आने-जानेके योग्य स्थान होना चाहिए।

(७) पुस्तकाधारोंका ढाल पन्द्रह अंश होना चाहिए। [देखो चित्र ६]

(८) पुस्तकाधारके नीचेका सिरा पीठासनके भीतरके सिरेके सीधे ऊपर होना चाहिए। [देखो चित्र ६]

असावधानीका परिणाम

पीठासनों और पुस्तकाधारोंके विषयमें पाठशालाके प्रबन्धकों-की ओरसे बड़ी सावधानी रक्खी जानी चाहिए। यदि पुस्तकाधार ठीक न हुए या उनके बदले ऊँची लम्बी चौकियाँ बिछा दी गईं तो उसका कुफल यह होगा कि छात्रोंकी पीठ झुक जायगी, छाती संकुचित हो जायगी, कन्धे घूम जायँगे और शरीर दुर्बल तथा विरूप हो जायगा [देखो चित्र ९]। इस शारीरिक हानिके साथ-साथ बच्चोंकी मानसिक हानि यह होगी कि शारीरिक अस्वस्थताके कारण न तो उनमें एकाग्रता रह पावेगी न पाठमें रुचि। इस कारण नैतिक हानि यह होगी कि विद्यार्थी दुर्विनीत, चिड़चिड़े, असंतुष्ट और अस्थिर हो जायँगे। यही बात श्यामपट्टोंके विषयमें भी है। यदि वे ठीक स्थानपर रूखी स्याहीसे पुते हुए नहीं होंगे तो बच्चोंकी आँखें निर्बल हो जायँगी और आँखके अनेक रोग उत्पन्न हो जायँगे।

[चित्र ९]

[बुरी बनावटके पुस्तकाधारके साथ बुरे ढंगसे बैठकर लिखना]

अन्य सामग्री

विद्यालयोंमें पीठासनों और पुस्तकाधारोंके अतिरिक्त वाचन-घोड़े, सूचना-पट्ट, चित्रपट तथा अन्य ऐसे सब साधन होने चाहिएँ जिससे वहाँका जीवन नियमित और सुव्यवस्थित प्रतीत हो। सब कक्षाओंकी तालियाँ संख्या डालकर आचार्य-कक्षके तालिकाधार पर टँगी रहनी

[चित्र १०]
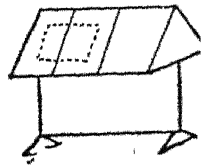
[समाचार पत्र पढ़नेके लिये वाचन-घोड़े ।]

चाहिए। विद्यालयके संबंधमें, वहाँके छात्रों और अध्यापकोंके सम्बन्धमें सब विवरण इस प्रकार किसी उपयुक्त स्थानपर अंकित होना चाहिए कि किसी भी अपरिचितको वहाँके विषयमें पूरी जानकारी प्राप्त करनेमें कठिनाई न हो।

सभाभवन

इन कक्षाओंके अतिरिक्त एक भवन ऐसा होना चाहिए जिसमें६ प्रार्थना, नाटक, सभा आदि कार्योंके लिये सब विद्यार्थी एकत्र हो सकें। इन सबके अतिरिक्त आचार्यका और विद्यालयके कार्यालयका प्रकोष्ठ होना चाहिए।

आचार्य-कक्ष—(प्रिंसिपल्स रूम)

आचार्यका प्रकोष्ठ ऐसे स्थानपर हो जहाँसे समूचा विद्यालय दृष्टिमें आ सके तथा विद्यालयमें आनेवाले या विद्यालयसे जानेवाले कोई भी व्यक्ति आचार्यकी दृष्टिसे बचकर न आ-जा सकें।

आचार्यकक्ष में निम्नलिखित परीवाप (फ़र्नीचर) होना चाहिए—

—लेखमंचिका (ऑफ़िस टेबिल)-जिसमें तालेवाले कोठे बने हों।

२—गोपनीय पेटिका (कौन्फ़िडेंशल बौक्स), गोपनीय पत्र रखनेके लिये।

३—विशेप पत्र-पेटिका (स्पेशल रेकर्ड बौक्स)—परीक्षा आदिके विशेप कागज रखनेके लिये।

४—तिजोरी (सेफ़)—रुपया, पैसा आदि रखनेके लिये।

५—भंडारी—अन्य आवश्यक पत्रादि रखनेके लिये।

६—टंकण-कोटर (स्टीनो रूम)—जिसमें स्टीनो-टेबिल (टंकण या टाइपराइटर रखनेकी मेज़) रक्खी रहे।

७—विश्राम-कोटर (रिटायरिंग केबिन)—जिसमें विश्राम-कुर्सी और जलपात्र हो।

८—मार्जन-कोटर (लघुशंका करने, मुँह-धोने आदिके लिये), जिसमें दर्पण, खूँटी, जल-नलिका आदिका प्रबंध हो।

९—तालिकाधार—काँचके ढक्कनवाली पेटी, जिसमें विद्यालयके सब कक्षोंकी तालियाँ क्रम तथा गिनती लगाकर टँगी हों।

१०—घड़ी, पंखा तथा प्रदीप (लैंप)।

११—तिथिपत्र (कैलंडर)।

१२—दिनचर्या (टाइम-टेबिल)—कक्षाक्रमसे (क्लास-वाइज़) तथा अध्यापक-क्रम से (टीचर-वाइज़)।

१३—हस्ताक्षर-मञ्चिका (साइनिंग टेबिल)—जिसपर अध्यापकोंकी उपस्थिति-पंजिका, लेखनी तथा मसीपात्र रहे।

१४—अतिथि-कोटर (विज़िटर्स केबिन)।

१५—कुर्सियाँ।

१६—गौरवाधार (ट्रौफ़ी-केस)—काँचके ढकने लगा हुआ ऐसा पेटा, जिसमें विभिन्न प्रतियोगिताओंमें जीते हुए विजयपत्र तथा पदार्थ रक्खे जा सकें।

इस प्रकार आचार्य कक्षके पाँच भाग होने चाहिएँ—

१—मुख्य कक्ष (मेन रूम)।

२—अतिथि-कक्ष (विज़िटर्स रूम)।

३—टंकण-कोटर (स्टैनोज़ केबिन)।

४—विश्राम-कोटर (रिटायरिंग केबिन)।

५—मार्जन-कोटर (वाशरूम)।

अध्यापक-कक्ष

अध्यापक-कक्षमें निम्नलिखित वस्तुएँ होनी चाहिएँ—

१—सब-मंजूषा (ब्लाण्ट रैक), एक ढाँचेमें अनेक कोठोंवाली पेटिका जिसके विभिन्न कोठोंमें विभिन्न अध्यापक अपना पोथी-पत्रा, खड़िया आदि रख सकें।

२—पात्र-पेटिका, जिसमें जलपान आदिके लिये पात्र रक्खे जा सकें।

३—तिथिपत्र।

४—दर्पण तथा छत्र-दंडाधार।

५—जलाधार और जलपात्र।

६—विश्वकोष (एन्साइक्लोपीडिया) तथा अन्य कोष (डिक्शनरी)।

७—मार्जन-कोटर (वाश रूम भी साथ होना चाहिए।

८—कुछ पीठासन (कुर्सियाँ) बैठनेके लिये और कुछ विश्रामासन (आरामकुर्सी) विश्राम के लिये होने चाहिएँ।

९—पंखा, घड़ी, प्रदीप (लैंप)।

कार्यालय

विद्यालयका कार्यालय आचार्य-कक्षसे सटा हुआ होना चाहिए और उसमें निम्नलिखित परीवाप होना चाहिए—

१—शुल्क-मंच (काउंटर), जहाँ छात्रोंसे शुल्क एकत्र किया जा सके, छात्रोंकी आवश्यकताओंकी पूर्त्ति की जा सके और उनकी पूछताछका उत्तर दिया जा सके।

२—चार आलमारियाँ—

(क) लेखन-सामग्री (स्टेशनरी) रखनेके लिये, जिसमें वर्ष भरके प्रयोगके लिये मोल लिए हुए कागज, कलम, पेंसिल, स्याही, निब, रजिस्टर तथा छपे हुए पत्रादि रक्खे जा सकें।

(ख) वहियाँ (फाइल) तथा रक्षणीय पत्र (रेकर्ड) रखनेके लिये।

(ग) परीक्षादिकी उत्तर-पुस्तिकाएँ रखनेके लिये।

(घ) फुटकर सामग्री रखनेके लिये।

३—विभिन्न लिपिकोंके लिये मंचिकाएँ (मेज़)।

४—जलाधार और जलपात्र।

५—मार्जन-कोटर (वाश-केबिन)।

कक्षा-पुस्तकालय

कक्षाकी अन्य आवश्यक सामग्रीके अन्तर्गत पुस्तकें भी आती हैं। किन्तु पुस्तकोंका चुनाव कैसे हो और किस प्रकारका हो—यह प्रत्येक कक्षाकी आवश्यकतापर अवलंबित है। उनके विषयमें आवश्यक बात यही है कि पुस्तकोंकी भाषा, विषय और पाठ्यसामग्री, विद्यार्थियोंकी योग्यता और बुद्धिके अनुकूल हो और उनमें कहीं कोई ऐसी बात न हो जिससे विद्यार्थीकी वासना जागरित हो या उसमें नैतिक दोष आवें। पुस्तकें ज्ञान बढ़ानेवाली, नैतिक तथा साहस-पूर्ण कार्य करनेके लिये प्रोत्साहन देनेवाली, पाठ्य-विषयोंमें सहायता करनेवाली तथा रुचि परिष्कृत करनेवाली होनी चाहिएँ।

विज्ञान-कक्ष

विज्ञान कक्षके संबंधमें सब शिक्षा-शास्त्रियोंका एक मत है कि वह सीढ़ीदार (गैलरी या थिएटरके रूपका) होना चाहिए जिससे अध्यापक-द्वारा किए हुए प्रयोग सबको सरलतासे दिखाई पड़ सकें। [देखो चित्र ११]
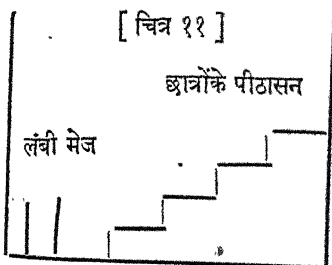
विज्ञान-कक्षको विद्यालय-भवनसे अलग रखनेका भी व्यापक विधान है क्योंकि अनेक प्रकारके रासायनिक और वायवीय पदार्थों

से निरन्तर दुर्गन्धि निकलती रहती है। विज्ञान-कक्षके साथ एक विज्ञान-प्रयोगशाला, विज्ञानके अध्यापकका कक्ष, भंडार-घर, गैसघर, तुलाकक्ष (बैलेन्स-रूम) और जलकी टंकी होनी चाहिए। जहाँ बिजली हो वहाँ रसायन-प्रयोगशालामें ऊपर ऐसे पंखे लगा देने चाहिएँ जो निरन्तर दूषित तथा दुर्गन्धित वायुको सदा बाहर निकालते रहें। यही बात स्वास्थ्य-विज्ञानके कक्षके संबंधमें है।

कला-कक्ष और शिल्पकक्ष

कला-कक्षमें प्रकाशका प्रबन्ध इतना अधिक होना चाहिए कि पार्श्वोंमें खंभे या भीतें न हों; काँचके पर्दे लगे हों या खुला प्रकाश आनेकी सुविधा हो। यही बात शिल्प-कक्षके लिये भी है।

व्यायामशाला

व्यायामशालामें अखाड़ेके अतिरिक्त शरीर-संस्कारके सब साधन, यन्त्र, बड़े-बड़े दर्पण, स्नानागार, तैलमर्दनके पीढ़े आदिकी ठीक व्यवस्था हो और उसमें द्वारोंका ऐसा प्रबन्ध हो कि गर्मीमें तो वह बराबर खुला रहे और जाड़ेमें इस प्रकार बन्द किया जा सके कि व्यायाम करनेवालोंको व्यायामके पश्चात् ठंढे वायुका झोंका न लग पावे अन्यथा अनेक प्रकारके शीत-रोग होनेकी संभावना रहती है। उष्ण जलसे स्नान करने तथा जलपानकी व्यवस्था भी वहीं होनी चाहिए।

तात्कालिक चिकित्साकक्ष

तात्कालिक चिकित्सा-कक्षमें निंम्नलिखित सामग्री होनी चाहिए—

१—रोगी-वाहक (स्ट्रेचर) तथा रोगी-शैया

२—स्टोव (अँगीठी)

३—सहायता-पेटिका, जिसमें यह सामग्री हो—

(क) टिंक्चर आयोडीन

(ख) जम्बक या आयोडेक्स जैसी औषधि

(ग) टिंक्चर बेन्ज़ोएन
(घ) लिनिमेंट ए० बी० सी०
(ङ) अमृतांजन जैसी औषधि
(च) दर्द हरनेवाली गोलियाँ
(छ) अमृतधारा जैसी औषधि जो सिरदर्द, मूर्च्छा, पेटके दर्द, अपच, वमन आदि रोगोंपर काम दे।
(ज) कपड़ेकी पट्टियाँ
(झ) लकड़ीके फट्टे
(ञ) बोरिक एसिड,
(ट) बोरिक कौटन (रूई)
(ठ) चूने-नौसादरकी शीशी

जलपानघर, जलागार, शौचालय तथा विक्रय-भंडार

जलपानघर, जलका स्थान, शौचालय तथा विक्रय-भंडारके कक्ष विद्यालयके प्रमुख भवनसे दूर बनवाने चाहिएँ किन्तु इन सबमें इस बातका ध्यान रक्खा जाना चाहिए कि वहाँ किसी प्रकारका भी कूड़ा-करकट न हो और वह अस्वास्थ्यकर न हो जाय।

जब पाठशाला और उसकी कक्षाएँ इतनी सामग्रीसे पूर्ण हों तब यह देखना चाहिए कि इन सामग्रियोंका प्रयोग करनेवाले छात्र और अध्यापक कैसे हों और उनसे काम लेनेवाले आचार्यमें क्या गुण हों।

३

आचार्य

आचार्यका महत्त्व

यह कहा गया है कि घड़ीके लिये कमानीका, मशीनके लिये उड़नचक्रका और जलयानके लिये अंजनका जो महत्त्व होता है वही पाठशालाके लिये आचार्य्यका होता है। जैसा आचार्य होता है वैसा ही विद्यालयका रूप बन जाता है, वैसे ही अध्यापक बन जाते हैं और वैसे ही छात्र भी। विद्यालयकी अच्छाई-बुराई, आचार-व्यवहार, विनय और शील सब कुछ आचार्य्यकी महत्ता, योग्यता, समर्थता और शक्तिपर अवलम्बित होता है। उसका स्वभाव और चरित्र विद्यालयका स्वभाव और चरित्र होता है। विद्यालयको देखकर, वहाँके छात्रों एवं अध्यापकोंके व्यवहारका संपर्क पाकर आचार्यके व्यक्तित्व और सामर्थ्यका बोध हो जाता है।

आचार्यके गुण

यह आवश्यक नहीं है कि आचार्य विद्वान् हो। किन्तु यह अत्यंत आवश्यक है वह वपुष्मान् हो, नीतिज्ञ हो, मृदुभाषी हो, स्वयं कर्मठ हो, दूरदर्शी हो, बहुज्ञ हो, शिक्षा-शास्त्रसे भली भाँति परिचित हो, विद्यालयके विभिन्न-अंगोंको सुव्यवस्थित करनेकी कला जानता हो, गंभीर हो, सदाचारी हो और अपने अधीन काम करने-वाले अध्यापकों तथा अन्य सेवकोंकी सुविधाओंका ध्यान रखते हुए उनसे काम ले सकनेका कौशल जानता हो। आचार्यको कठोर नहीं, गंभीर होना चाहिए, दण्ड-विधायक नहीं, नीति-विधायक होना चाहिए; शासक नहीं, नेता होना चाहिए। और यदि इन गुणोंके साथ वह

वृत्तिका भी हो और अपने विषयक। पण्डित भी हो तो
ड़गा समझना चाहिए। अपने विचार और कार्यमें उसमें
ता होनी चाहिए कि एक बार निश्चय कर लेनेपर किसीके
प्रलोभनसे वह विचलित न हो। हाँ, यह भी आवश्यक है
भी निश्चय करनेसे पूर्व उसे भली प्रकार सोच-विचार लेना
सहसा हड़बड़ी या आवेशमें कोई निर्णय नहीं करना
आचार्य्यका धैर्य्य इतना प्रबल होना चाहिए कि अनेक
समस्याओं एवं परिस्थितियोंके आघातसे भी वह टससे
पावे। उसे किसी भी अवस्थामें कोई बात ऐसी नहीं कहनी
कोई काम ऐसा नहीं करना चाहिए जिससे क्षुद्रता, कृपणता,
लोभ प्रकट होता हो। उसकी उदारतामें भव्यता होनी
महत्ता होनी चाहिए। उसकी वाणीमें, उसके शरीरमें, उसकी
सा गंभीरता-पूर्ण तेज होना चाहिए कि उसके संपर्कके
प्रत्येक व्यक्ति इतना प्रभावित हो कि तत्काल श्रद्धा और
साथ आत्म-समर्पण कर दे, आत्मीय समझने लगे, साथ
आत्मीयतामें अत्यंत आदर और गुरुत्वकी भावना हो। उन
बहुतसे ऐसे हैं जो ईश्वर-प्रदत्त होते हैं। सुन्दर, सुडौल,
शरीर ईश्वरके वरदानसे मिलता है, किन्तु सच्चाई, निर्भीकता,
और मनस्विता आदि गुण अभ्याससे भी प्राप्त किए जा
। स्वयं अनुभव ही हमारा सबसे बड़ा गुरु है, वही
शिक्षाका राज-पथ दिखलानेके लिये पर्याप्त है।

र्यका दायित्व

ाचार्यको केवल पढ़ाना ही नहीं पड़ता। उसे शिक्षणकी व्यवस्था
पड़ती है, पाठशालाका प्रबन्ध करना पड़ता है और छात्रोंमें
ी भावना भरनी पड़ती है, साथ ही विभिन्न रुचियों, प्रवृत्तियों,
और कुलोंके अध्यापकों, छात्रों तथा अभिभावकोंसे अत्यन्त

दृढ़ता तथा कौशलसे व्यवहार करना पड़ता है। जिसके सिरपर इतना बड़ा बोझ हो, इतना विशाल उत्तरदायित्व हो उसमें ऐसे नेताके गुण होने ही चाहिएँ जिसके पीछे सब चल सकें और जिसका सब आदर कर सकें। उसके अधीन काम करनेवाले छात्र और अध्यापक केवल आचार्य होनेके नाते ही उसका मान न करें वरन् यह भी अनुभव करें कि वह योग्यता, शक्ति और चरित्र तीनोंमें हमसे बढ़कर है।

संचालन

पाठशाला या विद्यालयका यंत्र चलाते रहना और नियमित लिखा-पढ़ीके कार्योंको निपटाते रहना ही आचार्यका काम नहीं। उसे विद्यालयकी नीति और वहाँके राज्यकी भी देख-भाल करनी पड़ती है और इसी नीति और देखभालके लिये ही उसे अन्य अध्यापकोंसे अधिक वेतन मिलता है। उसे अन्य अध्यापकोंके समान एक कक्षाके केवल तीस विद्यार्थियोंकी ही देखभाल नहीं करनी पड़ती, उसे विद्यालयके सैकड़ों विद्यार्थियोंके स्वास्थ्य, चरित्र तथा शरीरके विकासका विधान करना पड़ता है, अध्यापकोंके कार्योंका निरीक्षण और संवर्धन करना पड़ता है, विद्यालयके भवन, सामग्री और शिक्षाके उपादानोंकी सँभाल रखनी पड़ती है, छात्रोंका वर्गीकरण, पाठ्य-क्रमकी व्यवस्था, समय-चर्या और ब्यौरेके पोथोंका प्रवन्ध करना पड़ता है, विद्यालयके पास-पड़ोसकी स्वच्छता, प्रकाश और पवनकी सुव्यवस्था, रोगों और दुर्घटनाओंसे सुरक्षाका प्रबन्ध, विनय और सद्भाव भरनेका प्रयत्न, खेलभूमि, छात्रावास, कक्षा, कार्यालय, और वैज्ञानिक प्रयोगशालाका निरीक्षण, छात्रोंकी भर्ती, परीक्षा और उनका कक्षारोहण तथा इस प्रकारके न जाने कितने दैनिक, मासिक, वार्षिक, प्रासंगिक, आकस्मिक और आवश्यक कार्य करने पड़ते हैं। इस दृष्टिसे उसे अपने विद्यालयके सम्बन्धमें

वहाँका ईश्वर होना चाहिए—सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान और सर्वव्याप्त। यदि इसमें वह तनिक भी शिथिलता करता है तो उसका विद्यालय शीघ्र ही मछरहट्टा, सट्टी या हाट बन जायगा जहाँ कोई व्यवस्था नहीं, विनय नहीं, कोई नियम नहीं।

आचार्यकी कठिनाइयाँ

भारतीय विद्यालयोंमें प्रायः आचार्य उतना स्वतंत्र और उतना शक्तिशाली नहीं है जितना उसे होना चाहिए। विद्यालयोंकी प्रबंध-कारिणी सभाओंके सदस्य और वहाँके मन्त्री प्रायः आचार्योंको अपनी मुट्ठीमें किए रहते हैं और आचार्य भी सब विषयोंमें उनकी कठपुतली बने हुए उनके हाथोंमें नाचते हैं। यह व्यवस्था अत्यंत निन्दनीय है। विद्यालय चलानेवाली प्रबंध-कारिणी सभाओंका वास्तविक कर्त्तव्य यही होना चाहिए कि वे विद्यालयके आचार्यके कथनानुसार विद्यालयकी सर्वांगीण उन्नतिके लिये निरन्तर साधन जुटाते चलें किन्तु विद्यालयके भीतरी प्रबंधमें हस्तक्षेप न करें। आचार्यके चुनावके समय वे पूर्ण सावधानी, दूरदर्शिता और कौशलका प्रयोग करें किन्तु आचार्य चुन लेनेपर वे आचार्य-के दास होकर रहें, स्वामी बनकर नहीं। जहाँका आचार्य किसी भी व्यक्तिकी अधीनता स्वीकार करेगा या किसीके निर्देशके अनुसार काम करनेको बाध्य होगा वहाँ न विनय ही ठीक पनप सकता है और न व्यवस्था ही। इसलिये आचार्य-को, नेताके समान, केवल छात्रों एवं अध्यापकोंका ही नहीं वरन वह जिस जनपद, प्रान्त या नगरमें हो वहाँके संपूर्ण समाजका नेतृत्व करना चाहिए। एक आचार्य अपने कई सौ विद्यार्थियोंको स्वच्छता, स्नेह, सद्भावना, सहयोग, सेवा, सत्यता और निर्भीकताका पाठ पढ़ाकर सैकड़ों राजनीतिक नेताओंसे अधिक कार्य कर सकता है क्योंकि वह अपने छात्रोंके द्वारा कलके माता-पिताओंको, कलके

नागरिकोंको स्वच्छ रहने, सचाईका व्यवहार करने और निर्भीक होनेका पाठ पढ़ा सकता है, उन्हें स्वतंत्र भारतका सुयोग्य नागरिक बना सकता है।

विद्यालयकी देखभाल

आचार्यको पढ़ानेसे अधिक विद्यालयकी देखभालपर समय बिताना चाहिए। जो लोग आचार्यकी योग्यता, उसके पढ़ानेके घण्टे गिनकर मापना चाहते हैं, उन्हें आचार्य्यकी पहचान ही नहीं है। यदि वह एक घण्टा नित्य पढ़ाता है तो वह बहुत है, किन्तु उसे शेष चार-पाँच घण्टे निद्रा लेने या गप लड़ानेमें नहीं बिताने चाहिएँ। उसे ठीक प्रकारसे कार्यालयका कार्य देखना चाहिए, जितने पत्र आए हों उनका उत्तर तत्काल भिजवा देना चाहिए, छात्रोंके शुल्कसे जितना द्रव्य एकत्र हुआ हो, उसमेंसे नियमके अनुसार द्रव्य रोककर शेष सब निर्दिष्ट कोषोंमें भेज देना चाहिए, निश्चित तिथिपर अध्यापकोंको वेतन देना चाहिए, पाठशालाके प्रत्येक विद्यार्थी और उसके अभिभावककी आर्थिक और पारिवारिक परिस्थितिसे परिचित होना चाहिए, छात्रोंके अभिभावकोंसे संपर्क स्थापित करना चाहिए, अभ्यास-पुस्तिकाओंकी जाँच करनी चाहिए, विद्यालयके भवन और बाड़ेका निरीक्षण करके परिक्षेत्र स्वच्छ रखना चाहिए, खेल और व्यायामका निरीक्षण करना चाहिए, नित्य प्रयोगशाला, छात्रावास, प्रार्थना-भवन, व्यायामशाला, उद्यान, सेवक-निवास, मूत्रालय तथा शौचालयका निरीक्षण करके उन्हें स्वच्छ रखवाना चाहिए। एक शिक्षा-शास्त्रीका तो यहाँतक कहना है कि जो आचार्य अपने विद्यालयका मूत्रालय और शौचालय स्वच्छ और निर्गन्ध रखवा सकता है उस विद्यालयके छात्र अवश्य स्वच्छ और विनयी होंगे। केवल अपने प्रकोष्ठमें बैठकर कलम घिसनेवाले आचार्य लोग लेखक भले ही अच्छे हों किन्तु आचार्य कहलाने योग्य

नहीं हो सकते। आचार्य तो व्यवस्थापक, नेता, शासक, व्यवस्था-संचालक, संघटक, प्रबन्धक, आदर्श अध्यापक, पथ-प्रदर्शक, दार्शनिक, मित्र, पिता, माता, बन्धु, न्यायकर्ता और उपदेशक सभी कुछ होता है।

तीव्र दृष्टि

आचार्यको विद्यालयमें इस प्रकार व्यवहार करना चाहिए कि विद्यालयका प्रत्येक अध्यापक, छात्र और सेवक यह समझता रहे कि हमारे ऊपर सदा आचार्य्यकी दृष्टि लगी हुई है, यहाँ-तक कि आचार्यको पढ़ानेके घंटेमें भी छात्रोंको लिखनेका काम देकर एक बार इधर-उधर घूम लेना चाहिए। किन्तु इस निरीक्षणमें पुलिसके दारोगा या गुप्तचरकी भावना नहीं होनी चाहिए, इसमें मित्र या सहायककी वृत्ति होनी चाहिए और इसीलिये सदा यह अच्छा होता है कि उस घण्टेमें जो अध्यापक कार्य-मुक्त हों उन्हें साथ लेकर उनसे बातचीत करते हुए घूमा जाय जिससे छात्रों और अध्यापकोंके मनमें निरन्तर कर्त्तव्यकी भावना तो बनी रहे पर वे इस भयसे काम न करें कि लिखो-पढ़ो, आचार्यजी आते होंगे या आ रहे हैं। किन्तु यह तभी हो सकता है जब स्कूलकी प्रदक्षिणा करना आचार्य्य अपना नित्यका कर्त्तव्य बना ले और इस प्रदक्षिणामें यदि कोई बात असंगत या अनुपयुक्त हो तो उसका सुधार इस प्रकार करता चले मानो वह साधारण बात हो, उसको महत्त्व देकर बातका बतंगड़ बनावे।

नियमोंका ज्ञान

आचार्यको नवीनतम शिक्षा-सिद्धान्तों, विधानों और पद्धतियोंसे सदा परिचित रहना चाहिए और निरन्तर अपने अध्यापकोंको इन-नये विधानों एवं नई पद्धतियोंसे अवगत कराते रहना चाहिए। सफल

आचार्यके जो गुण हम ऊपर कह आए हैं उसके लिये आचार्यमें निम्नलिखित स्वाभाविक वृत्तियाँ होनी चाहिएँ—

(१) कर्त्तव्यकी पवित्र भावना।
(२) उदार सहानुभूति।
(३) विवेकात्मिका बुद्धि।
(४) दूसरेका स्वभाव पहिचाननेकी वृत्ति।
(५) अपने कार्यसे अनुराग।
(६) नई सूझ।
(७) नई या मौलिक योजना बनानेकी सूझ।
(८) आत्म-संयम।
(९) संघटन-शक्ति।
(१०) दृढ़ता।
(११) प्रभावशील वाणी।
(१२) सदाचार।
(१३) विद्यालयमें सदाचार और विनय भरनेकी योग्यता।
(१४) अर्थशौच—रुपए-पैसेका व्यवहार शुद्ध रखना।

अनुभवका लेखा

इसको और भी संक्षेपमें हम कह सकते है कि आचार्यका कर्त्तव्य है शिक्षा और विनयकी सुव्यवस्था करना। बहुतसे लोगोंने यह सुझाया है कि प्रत्येक आचार्यको अनुभव-पुस्तिका रखनी चाहिए जिसमें वह महत्त्वपूर्ण घटना, शिक्षाके प्रयोगोंके परिणाम, आवश्यक आँकड़े, उन्नतिका लेखा तथा और भी आवश्यक बातें लिखता चले। कहनेका तात्पर्य यह है कि आचार्यको साधारण मानवसे उच्चतर होना चाहिए, जो मानव-हृदयोंके व्यवहारको स्वस्थ रीतिसे संयत, संवर्द्धित एवं व्यवस्थित कर सके।

४

आचार्यके संबंध

विद्यालयका आचार्य लगभग वैसा ही काम करता है जैसे किसी केन्द्रीय स्थानपर बैठकर रेलगाड़ी-व्यवस्थापक (ट्रेन-कंट्रोलर) एक प्रदेश भरकी समस्त प्रकारकी गाड़ियोंके यानायानपर शासन करके उन्हें ऐसी व्यवस्थाके साथ चलाता है कि न उनमें टक्कर होती है, न किसी प्रकारकी असुविधा होती है। रेल-व्यवस्थापकका संबंध तो केवल स्टेशन-मास्टरोंसे ही रहता है किन्तु आचार्यका संबंध अत्यन्त व्यापक होता है। उसे निम्नलिखित क्षेत्रोंसे संबंध रखना पड़ता है और सुचारु रूपसे उन संबंधोंका निर्वाह करना पड़ता है—

१—प्रबन्धसमिति
२—अध्यापक
३—कार्यालय
४—अभिभावक
५—छात्र
६—गृहपति और छात्रावास
७—सेवक
८—पुस्तकाध्यक्ष
९—शिक्षा-विभाग
१०—अन्य सहयोगी विद्यालय
११—विद्यालयका परिक्षेत्र

१. आचार्य और प्रबन्ध-समिति

आचार्यका सबसे पहला सम्बन्ध विद्यालयकी प्रबन्ध-समितिसे है क्योंकि अध्यापकोंकी नियुक्ति, विभिन्न योजनाओंके लिये द्रव्यकी स्वीकृति, नये विषय प्रारंभ करनेका अंगीकरण, व्यवस्थापक-विवरण (मैनेजर्स रिटर्न) तैयार करनेकी व्यवस्था आदि कार्य प्रबन्ध-

समिति ही करती है। अतः आचार्य निरन्तर नियमित रूपसे विद्यालयकी उन्नति और सुव्यवस्थासे संबंध रखनेवाले कार्योंका विवरण निःसंकोच होकर समितिमें उपस्थित करे, अध्यापकोंके उचित वेतन-मान तथा पद बढ़ाने और विद्यालयकी उन्नतिके लिये निर्भीक होकर माँग करे और विद्यालयकी आन्तरिक व्यवस्थामें व्यवस्थापक (मैनेजर) या मन्त्री या प्रबन्धसमितिको किसी प्रकारका हस्तक्षेप न करने दे क्योंकि प्रबन्ध-समितिका एक मात्र कर्त्तव्य यह है कि वह विद्यालयकी व्यवस्था और समुन्नतिके लिये धन एकत्र करे और सावधानीसे यह देखती रहे कि विद्यालयके धनका दुरुपयोग तो नहीं हो रहा है। इसके लिये आचार्यका कर्त्तव्य है कि वह प्रतिमासके आय-व्ययका विवरण प्रबन्ध-समितिको देता रहे और प्रत्येक प्रकारके व्ययमें मन्त्रीको भी साथ उत्तरदायी बनाए रक्खे किन्तु जिन कोषों (फंड के व्यवहारका अधिकार केवल आचार्यको है उनका नियमानुसार प्रयोग करके उनका विवरण भी प्रबन्ध-समितिको देता रहे। दूसरा कर्त्तव्य यह है कि वह प्रति वर्ष विद्यालयका पूरा विवरण प्रबन्ध-समितिको देता रहे किन्तु कभी किसी अध्यापककी आलोचना कभी प्रबन्धसमितिको न भेजे। जिन अध्यापकोंके कार्यसे आचार्यको असन्तोष हो उन्हें बुलाकर अकेलेमें समझा दे किन्तु कभी प्रबन्ध-समिति या मन्त्रीको न लिखे क्योंकि इस प्रकार दोष लिखनेवाला आचार्य शिथिल और सामर्थ्य-हीन समझा जाता है। अच्छा आचार्य अपने अवाञ्छनीय सहायक अध्यापकोंको भी ठीक करके उन्हें सुधार लेता है, उनकी जीविका छीननेकी नीचता नहीं करता। यदि कोई अध्यापक सचमुच इस अवस्था तक पहुँच गए हों कि न वे अपना सुधार कर सकें न उनसे विद्यालयका मंगल होता हो तो धीरेसे उन्हें समझा दिया जाय कि आप कोई दूसरा स्थान ढूँढिए और प्रयत्न करके उनके लिये स्थान ढूँढकर

उन्हें स्थानान्तरित कर दिया जाय। किसी आचार्यको कभी प्रबन्ध-समितिके मन्त्री या सदस्यके घर विना निमन्त्रणके नहीं जाना चाहिए और वहाँ पहुँचकर कभी उनके आगे दैन्य नहीं दिखाना चाहिए क्योंकि नित्य प्रबन्धसमितिके मन्त्री या सदस्योंके यहाँ बैठक करने, उनके पीछे पूँछ हिलाने और दाँत निपोरनेका प्रभाव छात्रों, अध्यापकों तथा सेवकोंपर अत्यन्त भयावह तथा अनैतिक पड़ता है जिससे उनके हृदयमें अश्रद्धा उत्पन्न हो जाती है और विद्यालयका शील नष्ट हो जाता है।

२. आचार्य और अध्यापक

अध्यापकोंका चुनाव

अपने अध्यापकोंका चुनाव करते समय आचार्यको यह ध्यान रखना चाहिए कि वे उसके मनके अनुकूल चलनेवाले हों। इस दृष्टिसे सर्वश्रेष्ठ उपाय यह है कि अध्यापक यदि आचार्यके प्राचीन शिष्य हों तो सर्वश्रेष्ठ है क्योंकि स्वाभाविक रूपसे ये शिष्य, आचार्यकी सब योजनाओंमें सदा मनोयोग-पूर्वक सहयोग दे सकेंगे। किन्तु यह आदर्श स्थिति सब स्थानोंपर संभव नहीं है। अतः बातचीत, रंगढंग, तथा आचार-व्यवहारसे यह परीक्षा कर लेनी चाहिए कि कौन अध्यापक मनसे सहयोग दे सकेगा, कौन नहीं।

कार्य-वितरण

अध्यापकोंके चुनावके पश्चात्. सबसे बड़ी कठिनाई काम बाँटनेकी है। अधिकांश अध्यापक ऊँची कक्षाओंको पढ़ाना ही अपने लिये गौरवकी बात समझते हैं किन्तु जो कुशल अध्यापक होते हैं वे किसी भी कक्षाको कुछ भी पढ़ानेमें तनिक भी नहीं हिचकते। वास्तवमें अच्छे अध्यापककी भी परीक्षा छोटी कक्षामें ही होती है क्योंकि शिक्षण-कला-कौशलका जितना

प्रयोग छोटे बालकोंको पढ़ानेमें लगाना पड़ता है उतना बड़ी अवस्थाओंके बालकोंको नहीं। बड़ी अवस्थाके बालक स्वभावसे गंभीर और अधिक सावधान होते हैं। किन्तु छोटे बालक स्वभावसे ही चपल और चंचल होते हैं। उन्हें एकाग्र और सावधान रखना बड़े कौशलकी बात है। किन्तु फिर भी आचार्यका कर्त्तव्य है कि यथाक्रम प्रत्येक अध्यापककी रुचि, व्यक्तित्व, अनुभव, योग्यता, स्वभाव और ज्ञानकी परीक्षा करके तदनुसार उसे शिक्षणका काम सौंपे और फिर समय-समयपर मित्र और अनुभवी सहायकके रूपमें उनका निरीक्षण, परीक्षण और निर्देशन करता रहे।

पाठन-कार्य

समयचर्या (टाइमटेबिल) में पाठन-कार्य इस प्रकार व्यवस्थित करना चाहिए कि किसी अध्यापकको यदि एक घंटा मौखिक शिक्षणका हो तो एक लिखितका, जिससे किसी अध्यापकपर अनावश्यक भार न पड़े। किसी अध्यापकको किसी भी दिन चार घंटे (पीरियड) से अधिक पढ़ानेका कार्य नहीं देना चाहिए। इसके अतिरिक्त प्रत्येक अध्यापककी रुचिके अनुसार उसे नाट्य-परिषद्, प्रतियोगिता, खेल आदि कार्य सौंप देना चाहिए।

छात्रोंका विवरण

अच्छे, बुरे, सुशील, दुःशील, झगड़ालू, स्नेहशील, मेधावी, मूर्ख या साधारण—सब प्रकारके छात्रोंके संबंधमें अध्यापकोंसे सदा विवरण प्राप्त करते रहना चाहिए।

अध्यापकका आदर

आचार्यको अपनेसे वृद्ध अवस्थाके अध्यापकोंका सदा सम्मान करना चाहिए, समवयस्कोंका आदर करना चाहिए, छोटोंपर अभिभावकका-सा व्यवहार रखना चाहिए किन्तु किसी अध्यापकको कभी किसी छात्र, सेवक, अध्यापक या अन्य व्यक्तिके सम्मुख न

कठोर वचन कहना चाहिए, न तर्जन करना चाहिए। यदि छात्र और अध्यापकमें संघर्ष हो और दोष अध्यापकका ही हो तब भी प्रत्यक्षतः अध्यापकका ही पक्ष लेना चाहिए किन्तु एकान्तमें अध्यापकको समझा देना चाहिए। इसके अतिरिक्त प्रत्येक अध्यापककी घरकी स्थिति समझते रहना चाहिए और यह प्रयत्न करते रहना चाहिए कि उसे किसी प्रकारकी आर्थिक या शारीरिक चिन्ता न रहे।

निन्दकका प्रतिकार

आचार्यको चाहिए कि किसी भी अध्यापकको बहुत मुँह न लगावे और कभी किसीको यह प्रोत्साहन न दे कि वह किसी अध्यापक या प्रबन्धसमितिके सदस्यकी आलोचना करे। यदि कोई धृष्टतावश करने भी लगे तो तत्काल यह कहकर उसे रोक देना चाहिए कि—"श्रीमान्जी! दोष किसमें नहीं होते। हम और आप ही कौन दूधके धुले हैं। जाने दीजिए। मनुष्यके गुण देखने चाहिएँ, दोष देखना तो दुर्बल चरित्रका गुण है।"

कक्षाध्यापक

प्रत्येक कक्षाके लिये अलग-अलग कक्षाध्यापक होना चाहिए जो नित्य उपस्थिति अंकित करें और छात्रोंकी गतिविधिपर व्यक्तिगत ध्यान दें। प्रायः कक्षाध्यापकोंपर यह भार रहता है कि वे प्रतिमास शुल्क लेकर उसका विवरण रक्खें। यह प्रथा अत्यन्त अवाञ्छनीय है। प्रत्येक विद्यालयमें शुल्क लेनेके लिये अलग लिपिक होना चाहिए और प्रतिमास अलग-अलग कक्षासे. शुल्क लेनेके लिये अलग-अलग तिथि निश्चित होनी चाहिए।

पाठ्यशैलीका निरीक्षण

कुछ शिक्षाशास्त्रियोंका कहना है कि आचार्यको अध्यापकोंकी कक्षामें जाकर पीछे बैठकर उनकी पाठ्य-शैलीका भली प्रकार निरीक्षण करके पुस्तिकामें विवरण लिखना चाहिए। किन्तु यह

पद्धति न तो अध्यापककी मर्यादाके लिये उचित है और न शिक्षा-सिद्धान्तकी दृष्टिसे ही उपयुक्त है क्योंकि आचार्यकी उपस्थितिसे स्वयं अध्यापकके मनमें एक प्रकारकी हिचक उत्पन्न हो जाती है और यह देखा गया है कि बहुतसे अध्यापक अपने आचार्य या निरीक्षकके आते ही इतने हतप्रभ हो जाते हैं कि वे उस समय अनेक प्रकारकी भूलें कर बैठते हैं। इससे छात्रोंके मनमें भी यह भावना हो जाती है कि हमारे गुरुजीकी परीक्षा ली जा रही है। वे जिस स्वतंत्रता और उल्लाससे अपने अध्यापकोंके प्रश्नोंका उत्तर देते, वह नष्ट हो जाता है और वे उत्तर देनेमें झिझकने लगते हैं। इसीलिये आचार्यको चाहिए कि वह अपने नेत्र और कान इस कौशलसे साधे रक्खे कि केवल दृष्टि-निक्षेप और अध्यापककी ध्वनिसे ही बाहर-बाहर पाठन-प्रणालीकी परीक्षा कर ले। हाँ, यह नियमित रूपसे देखते रहना चाहिए कि अध्यापन-कार्य नियमित हो रहा है या नहीं और लिखित कार्य सब अध्यापक जाँचते हैं या नहीं।

निरीक्षण-पुस्तिका (लौग-बुक)

योरोपीय शिक्षा-शास्त्रियोंने प्रत्येक अध्यापकके लिये निरीक्षण-पुस्तिका रखनेका विधान किया है, जिसमें आचार्य प्रत्येक अध्यापकके लिये अलग-अलग उनके पढ़ानेके गुण-दोष लिखता रहे। किन्तु यह प्रणाली भी ठीक नहीं है। इससे आचार्यके अहंभावको प्रोत्साहन मिलता है और अध्यापकके स्वाभिमानको ठेस लगती है। यदि किसीके पाठन-कार्यमें त्रुटि हो तो अध्यापकको बुलाकर एकांतमें समझाया जा सकता है। इससे आचार्यके मानकी वृद्धि होती है, अध्यापकके स्वाभिमानकी भी रक्षा होती है और आचार्यके प्रति अध्यापककी श्रद्धा भी बढ़ती है। साधारण पठन-पाठनकी त्रुटियों अथवा विशेष निर्देशोंके लिये सप्ताह या पक्षमें अध्यापकोंकी बैठकें भी होनी चाहिएँ जिनमें पाठन-विधि तथा

अन्य विषयोंपर खुलकर बातचीत कर ली जाय। वहाँ जो निर्णय हो उसे पालन करनेमें आचार्यको कोई संकोच नहीं करना चाहिए। आचार्यको सब कक्षाओंके लिखित कार्योंकी जाँच करते रहना चाहिए और चाहे वह उन सबका सूक्ष्म परीक्षण न भी कर सके फिर भी उन्हें ऊपरी दृष्टिसे देख जाना भी कम महत्त्वका नहीं होता।

आदेश-पुस्तिका (औॅर्डर-बुक)

विद्यालयमें आदेश-पुस्तिका भी होनी चाहिए जिसमें समय समयपर आचार्य-द्वारा दिए गए सब आदेशोंका तिथि-क्रमानुसार लेखा हृ तथा प्रत्येक अध्यापकको उस आदेश-पुस्तिकाके आदेश देखना अनिवार्य हो। आचार्यका कर्त्तव्य है कि जो आदेश एक बार दे दिया गया हो उसे न तो लौटाया जाय और न उसे पालन करनेमें शिथिलता दिखाई जाय।

दैनन्दिनी (डायरी)

आजकल प्रत्येक अध्यापकको अपनी दैनंदिनी या अध्यापक-पुस्तिका रखनी पड़ती है जिसमें वह अपने दैनिक कार्यका विवरण लिखता है। किन्तु यह भी अत्यन्त निरर्थक वस्तु है और अध्यापक-के सिरपर अनावश्यक भार है। सब स्थानोंके सभी अध्यापक इससे कुढ़ते रहे हैं। इसके बदले उचित यह है कि एक मासिक-पुस्तिका हो जिसमें एक मासका प्रस्तावित पाठ्य-क्रम और वस्तुतः पढ़ाया हुआ पाठ्य-क्रम लिख दिया जाय जिससे यह ज्ञात होता रहे कि अध्यापककी पाठन-गति मंद या बहुत तीव्र तो नहीं है।

वार्षिक सामग्री-परीक्षा

वर्षके अन्तमें प्रत्येक अध्यापकके अधिकारमें दी हुई विद्यालयकी वस्तुओं, पत्रों, पुस्तकों आदिकी जाँच परस्पर अध्यापकों-द्वारा ही करा लेनी चाहिए।

परीक्षा-कार्य

जो अध्यापक जिस विषयके योग्य हो उसे उस विषयका परीक्षक बनाकर उससे प्रश्नपत्र बनावाकर परीक्षण कराना चाहिए और परीक्षाफल बनानेका कार्य विद्यालयके उच्चतम अध्यापकों ही सौंपना चाहिए।

निरीक्षक

अध्यापकोंमें जो सबसे अधिक प्रभावशाली और गंभीर हो उसे निरीक्षक (प्रौक्टर) नियुक्त कर देना चाहिए जो भीतर-बाहर छात्रोंके चरित्र और आचरणपर नियन्त्रण रक्खे। उसका निर्णय सदा मान्य करना चाहिए।

गृहाध्यापन (प्राइवेट ट्यूशन)

अधिकांश अध्यापकोंको दारिद्र्यताके कारण छात्रोंके घरपर पढ़ाने जाना पड़ता है किन्तु यह प्रथा भी अत्यन्त निन्दनीय है क्योंकि इससे अध्यापकोंका सम्मान कम हो जाता है। इसके लिये उचित यह है कि घरपर पढ़ाई चाहनेवाले छात्रोंकी सूची विद्यालयकी ओरसे आचार्य ही बनवा ले और ऐसी व्यवस्था करे कि विद्यालयके अतिरिक्त समयमें अध्यापक उन्हें आकर पढ़ावें और सभी अध्यापकों-को समान सहायता मिल जाय।

मेधावी छात्रोंका सहयोग

आचार्यका यह भी कर्त्तव्य है कि उच्च कक्षाओंके अत्यन्त चतुर तथा मेधावी छात्रोंको भी समय-समयपर छोटी कक्षाओंमें पढ़ानेके लिये भेजा करें। इससे विद्यालयमें विनय-भावनाको प्रोत्साहन मिलता है, अध्यापन-कार्यमें निःशुल्क सहयोग मिलता चलता है, अध्यापन करनेवाले छात्रोंमें आत्मविश्वास उत्पन्न होता है और उनका ज्ञान भी सुपरिपक्व होता चलता है। भारतकी शिक्षा-

पद्धतिमें यह अत्यन्त प्रसिद्ध परिपाटी रही है जिसका प्रचलन ऐंड्रू बेलने इंगलैंडमें सफलतापूर्वक किया है। प्राचीन गुरुकुलोंमें इसी पद्धतिके कारण एक गुरु एक साथ दस सहस्र छात्रोंको पढ़ा सकता था और उनपर सफल शासन कर सकता था।

३. आचार्य और कार्यालय

आचार्यको अपने कार्यालय-लिपिक (क्लर्क) से सदा सावधान रहना चाहिए क्योंकि तनिक-सी असावधानी और उपेक्षासे कार्यालय-लिपिक वहाँके आचार्यको निन्दापात्र बना सकता है। प्रत्येक कार्यालयकी व्यवस्थाके लिये आचार्यको सबसे पहले इतने कार्य करने चाहिएँ—

क—विद्यालयमें जितने प्रकारके कार्य हों सबके लिये एक-एक अलग-अलग वही (फ़ाइल) बनाकर उन वहियोंको अंकित कर रखना-चाहिए जिससे किसी समय भी कोई कागजपत्र आँख मूँदकर निकाला जा सके। वही (फ़ाइल) में जो जो कागजपत्र रक्खे जाया करें उनपर भी क्रमिक संख्या डालते रहना चाहिए जिससे यदि कोई कागज लुप्त हो तो तत्काल ज्ञात हो जाय। कार्यालयसे कोई कागजपत्र बाहर नहीं भेजना चाहिए और यदि संयोगवश भेजना ही हो तो उसकी प्रतिलिपि रखकर पानेवालेसे प्राप्ति-स्वीकृति ले लेनी चाहिए। इसीलिये सिद्धान्त यह है कि कार्यालय-का कोई कार्य आचार्यको घरपर नहीं करना चाहिए।

प्रायः प्रत्येक विद्यालयमें निम्नलिखित बहियाँ होनी चाहिएँ—

*१—प्रबन्धसमितिके प्रस्ताव, निर्णय और विवरण।

*२—लिपिकों तथा अध्यापकोंकी नियुक्ति, अभिसन्धान (एग्रिमेंट) और अध्यापक-पुस्तिकाएँ (टीचर्स रेकर्ड-बुक)।

३—अध्यापकोंकी उपस्थिति तथा अवकाश-पंजिका।

४—अध्यापकोंके पोषण-कोष (प्रोविडेंट फंड) की पंजिका।
५—वेतन-पंजिका।
६—सेवकोंकी नियुक्ति और छुट्टी।
७—टूटफूट, नवनिर्माण आदिके लिये अनुमानपत्र (टेंडर)।
*८—आय-व्यय-पंजिका।
*९—बैंकमें रुपये भेजनेकी पंजिका और खातेकी पोथी।
१०—बिलों और उनके भुगतानोंकी पंजिका।
११—छात्राचरण-पुस्तिका (स्कौलर्स रजिस्टर)।
१२—छात्रवृत्ति-पुस्तिका।
*१३—वार्षिक-विवरण।
१४—शुल्कमुक्ति (फ़्रीशिप और हाफ़ फ्री-शिप)।
१५—वस्तु-सूची (स्टौक रजिस्टर)।
१६—छुट्टियोंकी बही।
*१७—परीक्षा (आय-व्यय, परिणाम तथा अन्य विवरण)।
१८—विभिन्न कक्षाओंकी छात्रोपस्थिति-पंजिका (एटेंडेन्स रजिस्टर)।
*१९—छात्रोंकी दंड-पुस्तिका।
२०—खेलविभाग।
२१—छात्रावास-विभाग।
२२—अभिभावकोंसे पत्र-व्यवहार।
२३—शिक्षाविभागसे पत्रव्यवहार।
२४—पुस्तकालय-विभाग।
२५—वार्षिक अधिवेशन।
२६—पुरस्कार।
२७—प्रतियोगिता तथा उत्सव।
२८—साधारण पत्र-व्यवहार।

२६—विज्ञान-विभाग।
३०—भवन-विभाग।
*३१—गोपनीय पत्र-व्यवहार।

[जिन विषयोंपर फूलका चिह्न बना है इनके कागजपत्र आचार्य-को अपने पास, अपनी तालातालीमें रखना चाहिए।]

ख—कार्यालयके विभिन्न कार्योंको तीन भागोंमें बाँट लेना चाहिए—
१. नित्यका कार्य; २. विशेष अवसरोंका कार्य; ३. वार्षिक कार्य। सब प्रकारके कार्योंके लिये विभिन्न तिथि या दिन निश्चय कर लेना चाहिए और नियत तिथि तथा समयपर कार्य करना चाहिए।

ग—छात्रोंसे सदा मिलना चाहिए। अध्यापकोंसे अध्यापक-कक्ष अथवा अध्यापक-गोष्ठीमें तथा अभिभावकोंसे अपने घरपर निश्चित समय देकर मिलना चाहिए। शिक्षाविभागके अधिकारियों तथा प्रबन्ध-समितिके सदस्योंसे घर आनेपर अथवा किसी भी समय सदा मिला जाय किन्तु विद्यालयसे संबंध रखनेवाले विशिष्ट कार्यके अतिरिक्त उनके घर कभी न जाया जाय।

घ—पत्रोंका उत्तर सावधानीसे तत्काल प्रतिदिन देना चाहिए और देख लेना चाहिए कि पत्र डाकमें या बहीमें चढ़ाकर भेज दिए गए हैं या नहीं, और उन्हें अपने सामने छुड़वाना चाहिए। अनुत्तरित पत्र रख छोड़ना अत्यन्त कलंककी बात है।

ङ—छात्रोंकी छात्रवृत्ति जिस दिन आवे उसी दिन बाँट देनी चाहिए।

च—ठीक नियत तिथिपर वेतन बँटवा देना चाहिए।

छ—एक सप्ताहसे अधिक किसी भी पावने (बिल) का भुगतान नहीं रोकना चाहिए और अच्छा यह है कि उसके लिये भी सप्ताहमें एक दिन (मंगलवार) निश्चय कर लेना चाहिए।

ज—नित्य आयव्ययकी जाँच करके रुपया बैंकमें भिजवा देना चाहिए।

झ—प्रतिमास उपस्थिति-पंजिका तथा आय-व्यय-पुस्तिकाका निरीक्षण करके हस्ताक्षर कर देना चाहिए।

ञ—छुट्टी, शुल्कमुक्ति, छात्रवृत्ति आदिके आवेदनपत्र छपवाकर रख लेने चाहिएँ और इसी प्रकार विद्यालय-परिचायिका, नियमावली, छुट्टीकी सूची, छात्रावासके नियम, अभिज्ञान-पत्र (आइडेंटिटी कार्ड), औपचारिक उत्तर-पत्र (फ़ौर्मल रिप्लाइ कार्ड), परीक्षा-फल या उन्नतिके पत्रक (प्रोग्रेस रिपोर्ट), परिणाम-पत्र (रिज़ल्ट शीट), प्रार्थना, नाम-पत्र (लेटर पैड या लैटर हेड) आदि सब आवश्यक कागज वर्ष प्रारंभ होनेसे पूर्वकी छुट्टीमें छपवाकर रख लेने चाहिएँ।

ट—प्रतिमास उन सब छात्रोंका विवरण अभिभावकोंके पास नियमित रूपसे कार्यालय-द्वारा भिजवाते रहना चाहिए जो कक्षामें आते न हों, अस्वस्थ रहते हों, पढ़ते न हों या पढ़नेमें कच्चे हों।

ठ—कार्यालयके लिपिकोंसे केवल नियत समयमें ही काम लेना चाहिए और यह ध्यान रखना चाहिए कि उन्हें असुविधा न हो। इसके लिये अच्छा विधान यह है कि जो ठेके दिए जायँ या विद्यालयकी सामग्री मोल ली जाय उसमें लिपिक (क्लर्क) का कुछ अंश (कमीशन) नियत कर दिया जाय अन्यथा वह कपट करके काटकूट करने लगेगा। भूखे रखकर सचाई और ईमानदारीकी आशा करना व्यर्थ है।

४. आचार्य और अभिभावक

अभिभावकोंसे सदा सम्पर्क बनाए रहना चाहिए और यदि कोई छात्र उपस्थिति, स्वास्थ्य अथवा अध्ययनमें अनियमित, असावधान अथवा दुर्बल हो तो उसकी सूचना अभिभावकको देते रहना चाहिए। छात्रकी प्रगति तथा उसकी वृत्तिके संबंधमें भी अभिभावकको आदेश, निर्देश तथा सम्मति देते रहना चाहिए।

५. आचार्य और छात्र

आचार्यको छात्रोंकी शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक, सांस्कारिक तथा सामाजिक उन्नतिपर सदा ध्यान देते रहना चाहिए। इसके लिये उसे निम्निलिखित कार्य करने चाहिएँ—

क—प्रत्येक छात्रकी भर्तीके समय उससे मधुर व्यवहार करके और उसकी ठीक परीक्षा करके उसे उपयुक्त कक्षामें प्रविष्ट कर लेना चाहिए।

ख—कभी किसी अभिभावक या प्रबन्धसमितिके सदस्यके प्रभावमें आकर किसी बालकको अगली या ऊँची कक्षामें नहीं चढ़ाना चाहिए।

ग—प्रतिदिन प्रार्थनाके समय एक बार छात्रोंको देख लेना चाहिए और कोई मधुर सन्देश प्रसन्न मुद्रामें नित्य दे देना चाहिए। इससे बालकोंका परिचय निरन्तर मिलता रहता है।

घ—जब कोई अध्यापक न आवे तो उसके बदले आचार्यको ही कक्षामें जाकर वही विषय पढ़ाना चाहिए और इस प्रकारके अवसर पाकर अधिकसे अधिक छात्रोंसे सम्पर्क प्राप्त करना चाहिए।

ङ—जो छात्र पढ़नेमें अशक्त हों उनकी पढ़ाईका विशेष प्रबन्ध करना चाहिए।

च—पुस्तकालयकी पुस्तकोंका कक्षाक्रमसे वर्गीकरण करके छात्रोंमें पुस्तक पढ़नेकी प्रवृत्ति बढ़ानी और जगानी चाहिए।

छ—विभिन्न कक्षाओंके उपयुक्त भाषामें तथा विषयोंपर अधिकारी विद्वानों, अध्यापकों तथा वक्ताओंके भाषण कराने चाहिएँ।

ज—छात्रोंकी सभी क्रियाओं, प्रवृत्तियों और सभाओंमें योग देकर सभा-शील तथा व्यवहारकी प्रत्यक्ष शिक्षा देनी चाहिए।

झ—विद्यार्थियोंके मानसिक संस्कारके लिये ललित व्याख्यान, नाटक, भाषण, अन्त्याक्षरी प्रतियोगिता, काव्य-प्रतियोगिता, कवि-

त-गोष्ठी, अध्ययन-मंडल, व्यवस्थासभा तथा गल्पगोष्ठीका
जन करते रहना चाहिए और उसमें स्वयं सम्मिलित होना
से छात्रोंका मानसिक संस्कार तो होता ही है, छात्रोंसे
बढ़ता है और उन्हें विभिन्न प्रकारकी साहित्यिक तथा
ोष्ठियोंके आयोजनका ज्ञान भी होता चलता है।

ात्रोंके खेल-कूदमें नित्य नियमित समयपर उनके साथ
उन्हें खेलाना चाहिए क्योंकि खेलके क्षेत्रमें ही छात्रोंकी
पोषण होता है और उनमें सद्भावना, सहनशीलता,
आदि सामाजिक गुणोंका विकास होता है। यदि इसमें
या असावधानी की गई तो छात्र निश्चय रूपसे उद्दंड,
और दुर्विनीत बन जाते हैं।

ी रिक्त समयमें छात्रोंको निरर्थक नहीं घूमने देना
हें पुस्तकालयमें या किसी न किसी काममें लगाए
ए।

ऐसा देना चाहिए कि छात्रका सुधार हो, उसकी हानि

स्कार ऐसे देने चाहिएँ कि छात्रमें स्वस्थ प्रतियोगिताकी
। हो, लोभ न आवे।

त्रोंको बहुत सिर नहीं चढ़ाना चाहिए, न मुँह लगाना
ापर पिताका स्नेह और माताकी ममता रखते हुए इतना
ना चाहिए कि छात्र श्रद्धा भी करें किन्तु डरते भी रहें।

त्रोंके पारस्परिक झगड़ोंका निपटारा करनेके लिये
और बड़े छात्रोंकी पंचायत बना देनी चाहिए और यदि
हो या उससे उन्हें सन्तोष न हो तभी आचार्यको अपना
चाहिए।

ी छात्रको यह प्रोत्साहन नहीं देना चाहिए कि वह किसी

छात्र, अध्यापक या प्रबन्धसमितिके सदस्यकी आलोचना करे।

थ—छात्रोंको छात्रवृत्ति तथा शुल्कमुक्ति प्रदान करनेके संबंधमें अत्यन्त सतर्क रहना चाहिए और यह कार्य छात्रोंके अग्रणी (मौनीटर) तथा अध्यापकोंके एक मंडल-द्वारा निश्चित कराना चाहिए।

द—आचार्यको केवल प्रबन्ध ही नहीं करना चाहिए, अध्यापन भी करना चाहिए।

ध—छात्रोंके स्वास्थ्य-वर्द्धनके लिये अखाड़े तथा व्यायामकी व्यवस्था करके शरीर-संस्कारकी रुचि उत्पन्न करनी चाहिए। निरन्तर उनके स्वास्थ्यकी परीक्षा कराते रहना चाहिए और उसके संबंधमें अभिभावकको सूचना देते रहना चाहिए। उन्हें बाहरकी मिठाई, बरफ़ और गड़बड़ वस्तुओंसे दूर रखना चाहिए।

न—छात्रोंके ज्ञान तथा सामर्थ्यके उचित परीक्षणका निरन्तर प्रबन्ध करते रहना चाहिए और तदनुसार उनकी शिक्षा-दीक्षाकी व्यवस्था करते रहना चाहिए।

६. आचार्य और छात्रावास

आचार्यको चाहिये कि वर्ष सत्रके प्रारम्भमें ही ऐसे व्यक्तिक छात्रावासका गृहपति (वार्डन या सुपरिंटेंडेंट) नियुक्त करे जो छात्रावासके अन्तेवासियोंको घरकेसे स्नेहपूर्ण वातावरणमें रख सके। साथ ही वह ऐसे संप्रेरक (हाउस मास्टर) नियुक्त करे जो यह देखते रहें कि छात्र नियमित रूपसे उचित समयपर छात्रावासमें अध्ययन, भोजन, व्यायाम, तथा शयन करते हैं या नहीं। आचार्यको यदाकदा सहसा छात्रावासमें जाकर अन्तेवासियोंसे कुशलमंगल पूछ लेना चाहिए।

आचार्यको यह समझ रखना चाहिए कि छात्रावासमें रहनेवाले प्रत्येक छात्रके आचरण और जीवनका उत्तरदायी केवल आचार्य ही

है, गृहपति (वार्डन) नहीं। अतः आचार्यका सर्वप्रथम कर्त्तव्य यह है कि वह लड़कों (या लड़कियों) के छात्रावासोंमें छात्रोंके आचरण तथा उनके पारस्परिक संबंधोंपर बड़ी कड़ी दृष्टि रखता रहे और गृहपति तथा संरक्षकोंसे सदा विवरण माँगता रहे। प्रायः सुन्दर बालक या बालिकाएँ छात्रावासोंमें अपने किसी सयाने साथी या सयानी साथिनके ऐसे चङ्गुलमें फँस जाते (जाती) हैं कि उनका सारा जीवन नष्ट हो जाता है, उनमें अनेक प्रकारके दुर्व्यसन, रोग और मानसिक संक्षोभ उत्पन्न हो जाते हैं जिससे उनका जीवन नरक-मय बन जाता है। छात्रावासके ऐसे बालकोंको अथवा जिनके संबंधमें आशंका हो उन्हें विशेष ध्यानके साथ छात्रावासमें रखना चाहिए क्योंकि कभी-कभी यह पारस्परिक समलिंगी आसक्ति इतना भयङ्कर रूप धारण कर लेती है कि विद्यालयके दुर्नामके साथ-साथ उन बालकों या बालिकाओंका संस्कार सदाके लिये बिगड़ जाता है और उनमेंसे कोई एक या दोनों कभी कभी आत्महत्या-तक कर बैठते हैं, जिसका पूर्ण उत्तरदायित्त्व आचार्यपर ही होता है। अतः आचार्यको छात्रावासके संबंधमें बहुत सचेष्ट और सावधान रहना चाहिए। उसे यह नहीं समझना चाहिए कि उत्तरदायित्व गृहपतिपर है। समाजके प्रति तथा अभिभावकके प्रति केवल आचार्य ही उत्तरदायी है।

७. आचार्य और सेवक

स्वच्छ, परिश्रमी, स्वस्थ तथा परम विनीत सेवक ही कर्मचारी रखने चाहिएँ जो प्रबन्ध-समितिके किसी सदस्य अथवा लिपिक (क्लर्क) के सम्बन्धी न हों और न उनके गाँवके या उनके प्रभावमें हों। सेवकोंसे अनावश्यक तथा औचित्यकी सीमासे अधिक काम नहीं लेना चाहिए और न उन्हें असुविधा देनी चाहिए। यदि वे अपने विद्यालयके कार्यके अतिरिक्त समयमें परिवारके पोषणार्थ कोई दूसरा

कामधन्धा करना चाहें तो उसके लिये उन्हें सुविधा देनी चाहिए किन्तु विद्यालयके कार्यको संकटमें डालकर या उसकी उपेक्षा करके नहीं। जहाँतक हो आचार्यको अपने घरका काम किसी सेवकसे नहीं लेना चाहिए और यदि ले तो उसका पुरस्कार किसी न किसी (भोजन, वस्त्र, द्रव्य) रूपमें दे देना चाहिए। इससे सेवकोंमें सन्तोष बना रहता है और वे अधिक आदर, मनोयोग तथा श्रद्धासे काम करते हैं। सेवकोंको भी न बहुत मुँह लगाना चाहिए और न सिर चढ़ाना चाहिए। उन्हें कभी इस बातके लिये प्रोत्साहन नहीं देना चाहिए कि वे किसी छात्र, अध्यापक, लिपिक, प्रबन्ध-समितिके सदस्य अथवा उनके परिवारके किसी सदस्यके आचरणकी निन्दा, आलोचना या प्रशंसा करे। विद्यालयके कार्यके लिये सेवकोंके प्रति कठोर रहना चाहिए किन्तु उनके वेतनमान तथा दुख-सुखकी दृष्टिसे अत्यन्त मृदु और सहानुभूतिमय होना चाहिए। आचार्यको यह भी ध्यान रखना चाहिए कि अन्य अध्यापक तथा छात्र भी सेवकोंके साथ अशिष्ट या उद्दण्डतापूर्ण व्यवहार न करें। यदि समान वेतन पानेवाले सेवकोंमेंसे कुछके पास अधिक और कुछके पास कम काम हो तो उनके कार्यको परस्पर अदलते-बदलते रहना चाहिए जिससे किसीको मन ही मन कुढ़नेका अवसर न मिले।

८. आचार्य और पुस्तकाध्यक्ष

पुस्तकालय तो विद्यालयका हृदय है अतः ऐसा व्यक्ति पुस्तकाध्यक्ष नियुक्त करना चाहिए जिसे स्वयं पुस्तक पढ़ने, पुस्तक मँगाने और पुस्तकोंके उपयुक्त वितरणमें स्वाभाविक अभिरुचि हो और जिसने पुस्तकोंके वर्गीकरण, अंकन तथा अनुक्रम-रक्षणकी शिक्षा पाई हो। आचार्यको देखते रहना चाहिए कि पुस्तकोंका वर्गीकरण और वितरण ठीक हो रहा है या नहीं और छात्रोंको पुस्तक प्राप्त

करने और लौटानेमें कोई असुविधा तो नहीं हो रही है। आचार्यके पास अनेक प्रकाशकोंकी सूचियाँ आती हैं जिनमेंसे विभिन्न विषयोंके अध्यापकोंसे परामर्श करके अपनी आयके अनुसार अच्छे ग्रन्थ मँगाते रहना चाहिए और यह ध्यान रखना चाहिए कि पहले विमर्श-ग्रन्थ (रेफ़रेन्स बुक्स) मँगाई जायँ, फिर ऐसे सहायक ग्रन्थ मँगाए जायँ जो विभिन्न विषयोंके समुचित अध्ययनाध्यापनमें सहायक हो सकें, तत्पश्चात् अन्य सामान्य पुस्तकें (नाटक, उपन्यास, कथा-कहानी, जीवनचरित, उपदेश, नीति, काव्य आदिकी) मँगाई जायँ क्योंकि पुस्तकालयके लिये अधिक आवश्यक विमर्श-ग्रन्थ ही होते हैं। इसके अतिरिक्त वाचनालयके लिये अच्छी उपयुक्त पत्र-पत्रिकाएँ मँगवानी चाहिएँ। इस विषयमें शिक्षाशास्त्रियोंका मत है कि सब समाचार छात्रोंके कानमें नहीं पड़ने देने चाहिएँ। उन्हें उतनी ही दैनिक सूचना देनी चाहिए जो उनके ज्ञानवर्धनमें सहायक हो। किन्तु समाचारपत्र, रेडियो और सिनेमाके युगमें उसका नियन्त्रण संभव नहीं है।

९. आचार्य और शिक्षा-विभाग

शिक्षाविभागसे आचार्यको इतने संबंध रखने पड़ते हैं—

१. विभागीय व्यवहार।

२. आयव्ययका विवरण भेजना और सहायता लेना।

३. नवीन विषय प्रारंभ करनेकी स्वीकृति लेना।

४. अध्यापकोंकी नियुक्ति स्वीकृत कराना।

५. परीक्षाफल भेजना।

६. विभागसे आए हुए आदेशोंका पालन।

७. निरीक्षकके आनेपर विद्यालयका आर्थिक परीक्षण कराना, तथा शिक्षणव्यवस्था और परिक्षेत्रका निरीक्षण कराना।

८. विभागीय परीक्षाओं (मिडिल, हाई स्कूल या इंटर) के लिये पत्र-व्यवहार।

शिक्षा-विभागके पत्रोंका उत्तर देनेमें और आदेश पालन करनेमें अत्यन्त तत्परता दिखानी चाहिए और यदि कोई आदेश अनुचित, अस्वाभाविक, अपमानजनक, दोषपूर्ण और अन्यायपूर्ण प्रतीत हो तो उसका विरोध करनेमें भी तनिक संकोच नहीं करना चाहिए। आचार्यको कभी यह नहीं समझना चाहिए कि निरीक्षक या शिक्षा-विभागके अधिकारी उसके स्वामी हैं। उसे सदा यह समझना चाहिए कि शिक्षा-विभागके अधिकारी जनताके सेवक हैं और आचार्य जनताका शिक्षक है। वह शिक्षा-विभागके अधिकारियोंसे बड़ा है। उसे सदा अपने इस महत्त्वका ध्यान रखना चाहिए।

१०. अध्यापक और अन्य सहयोगी विद्यालय

किसी भी विद्यालयके आचार्यको अपने नगर या प्रदेशके अन्य विद्यालयोंके आचार्योंके साथ अत्यन्त मैत्री-पूर्ण व्यवहार रखना चाहिए और उनसे मिलते-जुलते रहना चाहिए। किसी भी व्यक्तिको किसी दूसरे विद्यालयके आचार्य या अध्यापककी निन्दा करनेके लिये प्रोत्सहित नहीं करना चाहिए और सब विद्यालयोंके अध्यापकों तथा छात्रोंके साथ वैसा ही स्नेहपूर्ण व्यवहार करना चाहिए जैसा अपने अध्यापकों और छात्रोंके साथ।

११. आचार्य और विद्यालयका परिक्षेत्र

आचार्यको विद्यालयके परिक्षेत्र (कम्पाउंड) की सजावट, स्वच्छता और स्वस्थताका सदा ध्यान रखना चाहिए और नित्य घूमकर कक्षा-प्रकोष्ठ, जलाशय (कुआँ, नल, टंकी), शौचालय, विज्ञान-प्रकोष्ठ आदिकी स्वच्छताका निरीक्षण कर लेना चाहिए। यदि जलकी सुविधा हो तो ऐसे फल और फूलके वृक्ष लगवाने चाहिएँ

जो फूलने-फलनेके साथ छाया तो दें पर मच्छर न उत्पन्न करें। बहुतसे लोग विद्यालय-भवनोंपर लताएँ चढ़ा देते हैं किन्तु उनमें अन्धकार तथा मच्छर दोनोंकी वृद्धि होती है।

१२. आचार्य और समाज।

जिस सामाजिक वातावरणमें विद्यालय रहे उनकी सभी आवश्यकताओंका ध्यान रखते हुए और उनके कुप्रभावोंसे छात्रोंको बचाते हुए कार्य करना चाहिए। आचार्यका कर्त्तव्य केवल यही नहीं है कि वह छात्रोंको ही पुस्तक पढ़ावे और उनपर रौब गाँठे। वह समाजका भी गुरु है अतः उसे निरन्तर ऐसे भाषण, पर्वोत्सव तथा धार्मिकोत्सवका आयोजन करते रहना चाहिए जिससे समाजको विद्यालयका परिचय प्राप्त होता रहे और समाजके लोगोंके ज्ञान और संस्कारका परिष्कार होता रहे। यही विद्यालयकी सबसे बड़ी समाज-सेवा और सार्थकता है। इस कार्यको अधिक व्यापक बनानेके लिये विद्यालय-की ओरसे एक पत्रिका प्रकाशित करनी चाहिए जिससे सर्वसाधारणके ज्ञानका विस्तार हो और सबके चरित्रका शोधन हो।

इन विशिष्ट गुणोंसे युक्त तथा उपर्युक्त निर्देशोंके अनुसार कार्य करनेवाला आचार्य थोड़े ही समयमें अपने विद्यालयको ज्ञान और सदाचारका केन्द्र बना लेगा, इसमें कोई सन्देह नहीं है।

५

अध्यापक

उपाधि

सरकारी विधानके अनुसार जिस व्यक्तिने किसी शिक्षण-कला-विद्यालयमें शिक्षा-शास्त्र की कोई उपाधि प्राप्त कर ली हो वह अध्यापक या आचार्य पदके लिये उपयुक्त समझ लिया जाता है। इनमें सभी कुन्दन नहीं होते। उनमें भी सभी प्रकारके, सभी स्वभावके लोग होते हैं। अति सज्जन और अत्यन्त सरलसे लेकर अत्यन्त उद्दण्ड तथा अत्यन्त कठोर-नककी सभी श्रेणियोंके अध्यापक उनमें निकलते हैं। जब उनकी नियुक्ति होती है उस समय नियोजक लोग उनकी उपाधि और उनके गुरुओंके प्रमाण-पत्रोंके आधारपर उन्हें नियुक्त कर लेते हैं और समझ लेते हैं कि हमने अपना कर्त्तव्य अत्यन्त योग्यताके साथ पालन कर दिया। किन्तु शिक्षा-शास्त्रकी उपाधि पाए हुए सभी अध्यापक अध्यापन करना भले ही जानते हों किन्तु वे वास्तवमें अध्यापक हैं या नहीं इसमें संदेह है। बहुत-से लोग संस्कारतः, स्वभावतः और प्रवृत्तितः अध्यापन-कार्यमें रस लेते हैं, किन्तु अधिकांश लोग ऐसे होते हैं जो जीवनकी अनेक वृत्तियोंसे ऊबकर, धक्के खाकर जब कहीं ठौर-ठिकाना नहीं पाते तब अध्यापक बन जाते हैं।

कलाकार अध्यापक

अध्यापक भी एक कलाकार होता है। अतः जो गुण प्रकृत कलाकारमें होता है वही अध्यापकमें भी होना चाहिए। कलाकार

मानव- समाजका विचारक है। समस्त मानवोंकी ओरसे वह विचार करनेका कार्य करता है। वह सोचता है, विचारता है और सतत मनन करनेके पश्चात् मानव-समाजके हितके लिये और सत्य कल्याणकारी सिद्धान्तोंका निर्णय और प्रतिपादन करता है। ठीक यही काम अध्यापकका भी है। वह भी भावी पीढ़ीको सत्य, भव्य और कल्याणकारी विचारोंकी शिक्षा देकर उसका भविष्य उज्ज्वल करता है।

पथप्रदर्शक अध्यापक

जिस प्रकार कलाकार मानव-जातिका पथप्रदर्शक है उसी प्रकार अध्यापक भी। वह बतलाता कि किस राजमार्गपर चलनेसे मनुष्यका कल्याण हो सकता है, जीवनकी कौन सी दिशा अथवा दशा ऊबड़-खाबड़, टेढ़ी-मेढ़ी और कंटकाकीर्ण है तथा कौन-सा मार्ग सुरक्षित, स्वच्छ और सुन्दर है।

मित्र अध्यापक

कलाकारके समान अध्यापक भी मनुष्योंका मित्र है। उसकी शिक्षाएँ सच्चे मित्रके समान आपत्तियोंसे बचाती हैं, हमारे गाढ़े समयमें काम आती हैं। यही कारण है कि अध्यापक अपने विद्यार्थियोंका गुरु ही नहीं अपितु विचारक, पथ-प्रदर्शक और मित्र भी है।

अध्यापकके गुण

इसके अतिरिक्त अध्यापकमें कुछ अन्य गुणोंकी संस्थिति भी अनिवार्य्य ही माननी चाहिए। इन वाञ्छनीय गुणोंमें सबसे महत्त्वकी वस्तु अध्यापकका व्यक्तित्व है। अध्यापकका व्यक्तित्व ऐसा होना चाहिए कि उसपर दृष्टि पड़ते ही विद्यार्थी उसे अपने आदर और विश्वासका पात्र समझने लगें। अध्यापककी मुद्रा न

तो ऐसी भयंकर हो कि विद्यार्थी उसे तातारी सेनाका सर्दार समझ कर भयभीत हो उठें और न ऐसी भुलमुल ही हो कि पाठशाला भरमें उसे 'कुम्हड़-बतिया'की उपाधि मिल जाय। संक्षेपमें, अध्यापकका व्यक्तित्व माताके समान प्रेमवर्द्धक, मित्रके समान विश्वासोत्पादक और कभी-कभी पिताके समान त्रासक भी होना चाहिए। एक सूक्तिकारने कहा है—

विद्यया वपुषा वाचा वस्त्रेण विभवेन च।
वकारैः पंचभिर्युक्तो नरः संयाति मान्यताम्॥

[विद्या, शरीर, वाणी, वस्त्र और वैभव, ये पाँच वकार जिनमें हों उनका बड़ा आदर होता है।]

विद्वत्ता

इसके अतिरिक्त अध्यापकको अपने विषयका गम्भीर ज्ञान होना चाहिए। विद्यार्थी सदा अध्यापककी बातको वेदवाक्य मानते हैं। ऐसी अवस्थामें यदि छिछले ज्ञानवाला अध्यापक विद्यार्थियोंके मनमें किसी भ्रामक सिद्धान्तका बीज बो देता है तो सदाके लिये वह भ्रामक विचार जड़ पकड़ लेता है और उसे दूर करनेके लिये भारी परिश्रम और गहरे अभ्यासकी आवश्यकता पड़ जाती है। इतना ही नहीं, छिछली विद्या-बुद्धि रखनेवाला अध्यापक विद्यार्थियोंकी अश्रद्धा-का पात्र तथा उनके व्यंग्य-बाणोंका लक्ष्य बन जाता है। प्रारंभिक कक्षाओंमें तो नहीं, पर बड़ी कक्षाओंमें ऐसे अध्यापकोंकी बड़ी दुर्गति होती है। स्वाभिमान तो ग्लानिका कोड़ा फटकारकर उसे भाग निकलनेका संकेत करता है पर स्वार्थ उसे परिस्थितिके सम्मुख झुक जानेके लिये विवश करता है। हमारी जानकारीमें कौलेजके एक प्राध्यापक हैं। वे देखनेमें भी बहुत बुरे नहीं हैं। उनका

व्यवहार भी सहानुभूतिपूर्ण ही कहा जाता है पर अपने विषयका सम्यक् ज्ञान न रखनेके कारण उनके पूर्वोक्त दोनों गुण भी अवगुण-में सम्मिलित कर लिए गए हैं। उनकी स्वच्छ और सुन्दर वेषभूषा उनके लिये गुण्डेकी उपाधि प्राप्त कराती है और उनका सहानुभूतिपूर्ण व्यवहार उनके दब्बूपनका लक्षण माना जाता है। इसी एक अवगुणने उनके शेष गुणोंपर पानी फेर दिया है। देखा जाता है कि सौमें निन्यानबे छात्र तथा अभिभावक अपने अध्यापकोंमें केवल विद्या-बुद्धि ही खोजते हैं भले ही अध्यापक एक कान, एक आँख, एक हाथ और एक पाँवसे हीन हो और भले ही विद्यार्थी उसे द्वितीय यमराज क्यों न समझते हों। यदि अपने विषयपर उसका अधिकार है तो अधिकांश छात्र उसकी विकलांगता देखकर भी न देखेंगे, आँखें मूँद लेंगे, तरह दे जायँगे। अतः अध्यापकको अपने पाठन-विषयपर पूर्ण अधिकार होना चाहिए और इस अधिकारको सिद्ध करने तथा उसे सदा अभिनव और हरा बनाए रखनेके लिये यह आवश्यक है कि अध्या-पकको चाहे जितना भी अपने विषयका ज्ञान हो किन्तु उसे जो पाठ कल पढ़ाना हो उसे आज भली भाँति एक बार अध्ययन कर ले क्यों कि जितनी बार मनुष्य ध्यानपूर्वक किसी पाठको पढ़ता है उतनी ही बार उसमें नये भावोंका स्फुरण होता रहता है।

वपुष्मत्ता

व्यक्तित्व यद्यपि भाववाचक संज्ञा है तथापि उसके अन्तर्गत शारीरिक बनावटकी बात भी आ-जाती है। इसीलिये तो प्रायः सभी शिक्षाशास्त्री इस विषयमें एकमत हैं कि अध्यापकको सुदर्शन तथा वपुष्मान् होना चाहिए। पर इसका यह कदापि अर्थ नहीं है कि अध्यापकको सुन्दरतामें कामदेव अथवा स्वामिकार्तिकेय ही होना चाहिए। अधिकसे अधिक इसका अर्थ यही है कि अध्यापक शरीरतः अष्टावक्र न हो कि उसे देखते ही विद्यार्थी हँसते-हँसते विक्षिप्त हो उठें। लँगड़े, काने, पंगु, कृशकाय अथवा अंधे अध्यापक

वाञ्छनीय नहीं। अतः नियमतः दुर्बल तथा विकलांग व्यक्ति अध्यापक न बनाए जायँ, किन्तु जो अध्यापक अपनी विद्वत्ता अथवा किसी विशिष्ट गुणके कारण लोकप्रिय अथवा प्रतिष्ठित हो गए हों वे इस नियमके अपवाद हो सकते हैं।

मधुर वाणी

यदि वपुष्मत्ता अध्यापकको विद्यार्थियोंका आदरपात्र बनाती है तो सहानुभूतिमय व्यवहार विद्यार्थियोंके हृदयमें अध्यापकके प्रति गंभीर श्रद्धा-भाव उत्पन्न करता है। पहले ही बताया जा चुका है कि अध्यापक भी विद्यार्थियोंका मित्र होता है। यह मित्रता तभी पक्की हो सकती है जब अध्यापक अपने विद्यार्थियोंसे सहानुभूतिमय व्यवहार करे। ऐसा व्यवहार करनेसे विद्यार्थी भी अध्यापकको घरका प्राणी समझने लगते हैं, उससे अपनी भली-बुरी कोई भी बात छिपाते नहीं, उसकी सम्मतिपर विश्वास करते हैं। इस प्रकारका अध्यापक अपने विद्यार्थियोंके चरित्रनिर्माणका महत्कार्य करनेमें सफलता पा जाता है। किसीने कहा है—वाण्येका समलंकरोति पुरुषं या संस्कृता धार्यते। शुद्ध और सरस वाणी ही मनुष्यका सबसे बड़ा आभूषण है। अतः अध्यापकको सदा अपनी वाणीका माधुर्य बनाए रखना चाहिए। अध्यापकको अपना खानपान इतना संयत रखना चाहिए कि उसके कंठमें सुस्वरता, कोमलता और मधुरता व्याप्त हो। उसकी भाषा शुद्ध, सरस, स्वाभाविक तथा मधुर हो। उसका स्वभाव इतना मृदु हो कि वह जब भी मुँह खोले, उसके मुँहसे फूल झड़ें, उसकी वाणी सुननेके लिये लोग लालायित हों। रहीमने कहा है—

ऐसी बानी बोलिए, मनका आपा खोय।
आपहुकौ सीतल करै, औरौ सीतल होय॥

और गोस्वामीजीने भी कहा है—

तुलसी मीठे बचन तें, सुख उपजत चहुँ ओर।
बसीकरन इक मंत्र है, परिहरु बचन कठोर॥

वेषभूषा

अध्यापकको अपने वस्त्र और अपनी वेष-भूषाके संबंधमें भी अत्यन्त सतर्क रहना चाहिए। दाढ़ी बढ़ाकर-रहना, टोपीसे बाहर चुटिया निकालकर चलना, मैले-कुचैले या बेढंगे कपड़े पहनना, एक टोपी या एक जूता सदा काममें लाना ठीक नहीं है। अध्यापकको सदा स्वच्छ, सादे, ठीक सिले हुए वस्त्र भली प्रकार पहनने चाहिएँ जिनसे उसकी शोभा बढ़े और वह हास्यास्पद न प्रतीत हो, अर्थात् ऐसा न हो कि चप्पल, सलवार, चुन्नटदार मलमलका कुर्त्ता, मखमली कामदार जाकट और सिरपर जरीकी टोपी लगाकर निकलें। इस नाटकीय वेशभूषामें स्वच्छता और सुन्दरता होते हुए भी यह हास्यास्पद ही है। अध्यापकको समयकी वेशभूषा और लोकरुचिके अनुकूल सुघर ढंगसे वस्त्र पहनकर, बटन बंद करके, फ़ीते बाँधकर, सीधी टोपी लगाकर चलना चाहिए। लिबलिब, झुलझुल वस्त्र पहनकर या अशोभन वेशमें कभी छात्रोंके सम्मुख नहीं जाना चाहिए।

वैभव

वैभवका अर्थ अध्यापकके लिये उसका घरका पुस्तकालय तथा स्वच्छ बैठक है जिसमें पहुँचते ही छात्रोंको प्रतीत हो कि हम स्वस्थ, सुन्दर, सुघर वातावरणमें पहुँच गए हैं। अध्यापकका घर अत्यन्त शुद्ध हो, प्रत्येक वस्तु कलात्मक तथा सुन्दर ढंगसे सजाई गई हो और वहाँ किसी वस्तुको देखकर यह न प्रतीत हो कि गुरुजी कंजूस हैं या फूहड़ हैं। सादगीके साथ-साथ उनकी सुरुचिका भी परिचय मिलना चाहिए।

आदर्श जीवन

अध्यापकका जीवन आदर्श होना चाहिए। उसे ऐसा जीवन बिताना चाहिए जो स्वतः दूसरोंके लिये अनुकरणीय हो, जिसे देखकर अन्य लोग शिक्षा ग्रहण करें। अध्यापकका जीवन ऐसा आकर्षक

होना चाहिए कि देखनेवालोंके मनमें उसका अनुकरण करनेकी प्रवृत्ति स्वतः जग जाय। यह मनोवैज्ञानिक तथ्य है कि जीव बहुत-सी बातें केवल अनुकरणके बलपर सीखता चलता है। सिंह-शावकको आखेट करनेकी शिक्षा नहीं देनी पड़ती। यह काम वह अनुकरणके द्वारा ही कर लेता है। इसी प्रकार मानवशिशु भी अनुकरणसे ही खाना-पीना, उठना-बैठना, चलना-फिरना आदि सीखता है। इतना ही नहीं, अनुकरण मनुष्यकी सहज वृत्ति है। छोटे-छोटे बच्चे भी अपने पिता, पितामह आदि गुरुजनोंकी भाँति ही कपड़ा पहनना चाहते हैं, उन्हींकी भाँति चलते, फिरते और बात-चीत करते हैं। बहुतसे बालकोंमें चिल्ला-चिल्लाकर बोलनेका अभ्यास होता है। यह अभ्यास उनमें कहाँ से आया इसका ज्ञान ऐसे बालकोंके अभिभावकों-को देखनेसे तुरन्त लग जाता है। बहुतसे घरोंमें बालक अपने पिताको पिताजी न कहकर चाचा, काका या दादा कहते हैं। यह कहनेकी शिक्षा उन्हें कोई देता नहीं, वे अनुकरणसे ही सीख लेते हैं। धनी घरोंके बालक उच्छृङ्खल होते हैं। शिष्ट परिवारके बालक शिष्ट होते हैं। अनुकरण ही इसका मूल कारण है। मनुष्य-जीवनमें अनुकरण बड़े महत्त्वकी वस्तु है। योगेश्वर भगवान् श्रीकृष्णने कहा है—

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्त्तते॥

[बड़े लोग जिस प्रकार व्यवहार करते हैं उसी प्रकार अन्य लोग भी बड़ोंको ही प्रमाण मानकर उनका अनुकरण करते हैं।] इस स्थलपर ये दो बातें भी स्मरण रखनी चाहिएँ कि एक तो बालक अत्यधिक अनुकरणशील होता है और दूसरे, भली बातोंकी अपेक्षा बुरी बातोंका अनुकरण शीघ्रता तथा सुगमतासे करता है। ऐसी दशामें यदि अध्यापकका जीवन आदर्श न हुआ तो विद्यार्थियोंका जीवन सदाके लिये नष्ट हो जा सकता है। इसीके साथ यह भी जान रखना

चाहिए कि सौ सिद्धान्त-प्रतिपादनकी अपेक्षा एक कार्य-सम्पादन कहीं अधिक महत्त्वका होता है।

सुघरता

अध्यापकको अपने साधारण दैनिक व्यवहारमें अत्यन्त सावधानी और सुघरता बरतनी चाहिए। उसे फूहड़ अभ्यास नहीं डालना चाहिए। जेबमें हाथ डालकर पढ़ाना, पढ़ाते समय आँखें मटकाना, हाथ फटकारना, पैर हिलाना, उँगलीसे नाक खोदना, दाँतोंसे उँगलियोंके नख कतरना, सखुन-तकिएका भीषण भक्त होना, गाली बकना आदि बातोंकी गणना फूहड़पनके ही अन्तर्गत होती है। अध्यापकोंको इन बातोंसे बहुत सावधान रहना चाहिए।

चरित्र

अध्यापकमें जो गुण सब लोग देखना चाहते हैं वह है उसके चरित्रकी दृढ़ता। दृढ़ चरित्र सदैव निर्मल होता है। उसकी निर्मलता, सम्पर्कमें आनेवालोंका चरित्र निर्मल कर देती है। चरित्रकी निर्मलताके सम्बन्धमें कुछ अधिक विचार करनेके पूर्व यह समझ लेना असंगत न होगा कि चरित्र है क्या वस्तु। जन्मसे लेकर मृत्युपर्यन्त मनुष्य अनवरत कुछ न कुछ करता रहता है। प्रत्येक क्षण कुछ न कुछ करते रहना मनुष्यका आचरण कहलाता है। आचरणके अभ्यस्त व्यवहारको ही उसका चरित्र कहते हैं। चरित्रका सम्बन्ध मानव-प्रकृति या स्वभावसे होता है। शेष सृष्टिके प्राणियोंके सम्पर्कमें आकर विविध परिस्थितियोंमें मनुष्य जैसा व्यवहार करता है तदनुसार उसका चरित्र जाना जाता है। जीवनमें चरित्र बड़े महत्त्वकी वस्तु है। किसीने कहा है कि यदि धन नष्ट हो गया तो कुछ भी नष्ट नहीं हुआ, यदि स्वास्थ्य नष्ट हुआ तो कुछ अवश्य नष्ट हुआ, पर यदि चरित्र नष्ट हुआ तब सर्वस्व नष्ट हो गया। चरित्रका सम्बन्ध हमारे आत्मासे है। जिसका चरित्र दुर्बल होता है उसका आत्मा भी दुर्बल

होता है। दुर्बलात्मा दुर्बलकाय होता है। सांसारिक झंझटोंके झंझावातमें दुर्बलकाय प्राणी तिनकेसा मारा-मारा फिरता है। दुर्बल-काय प्राणी आत्मविश्वास खो बैठता है। विश्वासका अभाव पगपग-पर संदेहकी सृष्टि करता है और संशयात्मा प्रणश्यति, संशयात्मा-का नाश हो जाता है। इसके विपरीत दृढ़ चरित्रवाला मनुष्य भारी-से भारी आपत्तिका सामना करनेमें भी कुंठित नहीं होता। उसका चरित्र-बल उसमें उत्साह, स्फूर्ति, साहस और आशाकी वह बिजली फूँक देता है कि बाधाएँ उसके मार्गसे स्वयं हट-बढ़ जाती हैं, कलुष भी उसके सम्पर्कमें आकर उज्ज्वल हो जाता है, उसका सत्त्व सदा तेजस्वी रहता है, किसी भी परिस्थितिमें संकुचित नहीं होता। यह पहले ही कहा जा चुका है कि मनुष्य अनुकरणशील होता है। ऐसी अवस्थामें यदि अध्यापक शुद्ध चरित्रका न हुआ तो विद्यार्थियों-का चरित्र भी शिथिल हो जायगा। वैसे तो चरित्रकी दुर्बलता सभीमें अवाञ्छनीय है परंतु यदि किसी अध्यापकमें हुई तो वह जाति मात्रके लिये अत्यन्त भयावह हो जाती है। दूसरी ओर शिक्षाका एक महान् उद्देश्य चरित्र-निर्माण भी है। जो स्वयं बिगड़ा हुआ है वह दूसरेको क्या बनावेगा। जब अध्यापकका ही चरित्र ठीक नहीं है तब वह क्या तो अपने विद्यार्थी का चरित्र बना पावेगा और क्या शिक्षा-के उद्देश्यकी सिद्धि करेगा। इससे यही निष्कर्ष निकला कि चरित्र-हीन अध्यापक चाहे वह सोनेका ही क्यों न हो, मारीच ही है, अतः त्याज्य है।

नियमितता

इन सब व्यक्तिगत गुणोंके साथ-साथ अध्यापकोंमें कुछ ऐसे भी गुण अपेक्षित हैं जिनका सम्बन्ध विद्यालयकी सुव्यवस्थासे है। इनमेंसे पहला है नियमितता, दूसरा है सन्नद्धता और तीसरा है आज्ञाकारिता।

नियमितताका अर्थ यह है कि अध्यापकको नियमानुसार ठीक समयपर विद्यालयमें पहुँचना, ठीक समयपर कक्षामें पढ़ानेके लिये जाना, ठीक समयपर अपनी और छात्रोंकी उपस्थिति भरना, दैनन्दिनी (डायरी) भर कर देना, प्रश्नपत्र बनाकर देना, उत्तर-पुस्तिकाएँ जाँचकर देना, जागना, सोना, संध्यावन्दन करना, स्वाध्याय करना, घूमना और भोजनादि करना चाहिए। नियमित जीवनसे अपनेको तो सुख प्राप्त ही होता है, अपनेसे संबद्ध सभी लोगोंको—घरवालोंको, छात्रोंको तथा विद्यालयके अधिकारियोंको व्यवस्थामें सुविधा मिलती है।

सन्नद्धता

अध्यापकको विद्यालयसे संबंध रखनेवाले प्रत्येक कार्यके लिये सदा सन्नद्ध रहना चाहिए और किसी कामको छोटा नहीं समझना चाहिए। काशी हिन्दू विश्वविद्यालयके अवैतनिक रजिस्ट्रार आचार्य डा० श्यामाचरण देका कथन है कि मैं झाड़ू देनेसे लेकर कुलपति (वाइस-चान्सलर) तकका काम करनेमें कोई संकोच या बड़प्पन नहीं मानता क्योंकि मैं सदा यह अनुभव करता रहता हूँ कि विद्यालय मेरा है। इसी प्रकार प्रत्येक अध्यापकको समझना चाहिए कि विद्यालय मेरा है, उसका मान-सम्मान मेरा मान-सम्मान है। बहुतसे लोग यह समझते हैं कि हम बहुत बड़े सम्मानित पदपर हैं अथवा हमें इसके लिये वेतन नहीं मिलता है, हमें तो केवल पढ़ानेके लिये वेतन मिलता है इत्यादि। किन्तु प्रत्येक अध्यापकको यह समझ लेना चाहिए कि वेतन किसीकी योग्यताका मूल्य नहीं होता, वह तो नाममात्रकी दक्षिणा है। अध्यापकको इस दक्षिणाके मूल्यपर काम नहीं करना पड़ता। उसे तो अपने उस शिक्षण-व्रतकी रक्षाके लिये कार्य करना पड़ता है जिसके अनुसार उसने अपना सर्वस्व विद्यालयके लिये अर्पित कर दिया है। अतः उसे निरन्तर विद्यालयके प्रत्येक कार्यमें सात्त्विक रुचिके साथ स्वयंचेष्ट होकर योग देना चाहिए।

आज्ञाकारिता

इसके अतिरिक्त अध्यापकको अत्यन्त मृदुता और विनयके साथ अपने आत्मसम्मानकी सतत रक्षा करते हुए प्रत्येक विषयमें अपने विद्यालयके आचार्यका आदेश मानते रहना चाहिए और जिस दिन वास्तविक मतभेद हो उसी दिन विद्यालय छोड़कर चल देना चाहिए किन्तु वहाँ रहकर आचार्यकी या विद्यालयके नियमोंकी अवहेलना नहीं करनी चाहिए। यदि आचार्यकी कोई बात कभी अनुचित भी प्रतीत होती हो तो सबके सामने उनका विरोध न करके एकान्तमें आचार्यसे अपना मतभेद स्पष्ट कर लेना चाहिए।

अध्यापक और छात्र

अध्यापक और आचार्यके आवश्यक गुणोंका बखान कर लेनेपर यह बताना भी आवश्यक है कि उसे अपनी कलाका प्रयोग किनपर और किस प्रकार करना चाहिए।

आचार्य और अध्यापकका काम

चित्रकार अपने चित्र क़ाग़ज़पर, कपड़ेपर, लकड़ीपर, भीतपर तथा अन्य ऐसे ही किसी पदार्थपर बनता है। अपनी तूलिका और रंगोंसे वह उन कोरे पट्टोंको सजीव, आकर्षक और मूल्यवान् बना देता है। आचार्यका और अध्यापकोंका भी काम यही है कि जो बच्चे उनके हाथमें आवें उन्हें वह सजीव, आकर्षक और मूल्यवान् बना दें। जैसे कुम्हार मिट्टीके पिण्ड बनाता है और फिर चाकपर घुमाकर अपनी कला और इच्छाके संयोगसे उस पिंडसे वह मानवजातिके सुखके लिये अनेक पात्र बना देता है वैसे ही अध्यापकका भी कर्तव्य है कि वह अपने छात्रोंको लोक-सुखकारी सुपात्र बना दे।

सजीवता

बालक तो सजीव होते ही हैं फिर उन्हें सजीव बनानेका क्या अर्थ है ? सजीवका अर्थ यह है कि उन्हें देखकर यह न प्रतीत हो कि

ये मुहर्रममें पैदा हुए हैं, कई दिनोंसे इन्होंने खाना नहीं खाया है, अभी पिटकर आए हैं, किसीने बस्ता छीन लिया है, नशा पीकर आए हैं या घरसे निकाल दिए गए हैं। इसके विपरीत, बालक ऐसे बन जायँ कि मुस्कराहट उनकी शाश्वत संपत्ति बनी रहे, उनके अंग-अंगमें उल्लास, फूर्त्ति और आत्मविश्वास भरा रहे और उन्हें देखकर यह जान पड़े कि खंजनके समान अब उड़नेवाले ही हैं, जो काम कहा जाय उसके लिये कमर कसे तैयार, इधर कहा उधर बातकी बातमें काम हुआ।

आकर्षक

आकर्षक शब्दका अर्थ भी यह नहीं है कि बालक सुन्दर, रंगीन, बहुमूल्य कपड़े पहने हुए हों, गुलाबजलसे उन्होंने स्नान किया हो, उनके कपड़े इत्रमें बसे हों या उनके बाल सँवारे हुए हों। आकर्षकका अर्थ यही है कि उनकी सरलतामें ऐसा जादू हो कि एक बार दृष्टि पड़ते ही नेत्र वहीं ठहर जायँ अर्थात् उनकी बोलचाल, उठने-बैठनेका ढंग, उनका वेश, उनकी प्रत्येक गति ऐसी व्यवस्थित, संयत और सुसंस्कृत हो कि वे दूसरोंके लिये आदर्श रूप हों। देखनेवालोंकी भी इच्छा हो कि हम इन्हीं बालकोंके समान उठें, बैठें, बातें करें।

मूल्यवान्

तीसरी बात है मूल्यवान्। आजकल लोग अपने बच्चोंको शिक्षा देते समय इस बातका बड़ा विचार करते हैं कि बालक पढ़-लिखकर कितना कमावेगा, उसे कितनेकी नौकरी मिलेगी। नौकरीके वेतनके अनुसार वे बालक और पढ़ाईका मोल आँकते हैं। पर यह भी एक स्वार्थपूर्ण भौतिक दृष्टि है जिसके आधारपर ईश्वरतुल्य बालककी जाँच नहीं करनी चाहिए। मूल्यवान्से हमारा तात्पर्य यही है कि बालक में ऐसे गुण आ जावें कि देश उसे अपनी अमूल्य संपत्ति समझे, जाति उसे अपना शिरोभूषण समझे, माता-पिता उसे अपनी

आँखोंका तारा समझें, समाजका प्रत्येक व्यक्ति उसे अपनानेमें अपना गौरव समझे। ये गुण हैं सदाचार, सत्यता, निर्भीकता, आत्मत्याग, संयम, मधुर-भाषिता, निष्कपटता तथा निश्छल निष्काम सेवा-बुद्धि। यदि आचार्य और अध्यापकोंने अपने उदाहरण, उपदेश और शिक्षासे बालकोंमें ये गुण नहीं भरे तो उन्होंने अपना और बालकोंका, दोनोंका समय नष्ट किया, देशके साथ कृतघ्नता की और अध्यापनके पवित्र कार्यको कलुषित किया।

चित्रकार और अध्यापकमें अन्तर

कहनेको तो ये बातें बड़ी सरल हैं किन्तु करनेमें बड़ी कठिन हैं। इस विषयमें चित्रकार और अध्यापकमें बड़ा अन्तर हो जाता है। चित्रकारको स्वच्छ, चिकना, मोटा क़ाग़ज़, कपड़े या काठका पट्टा मिल जाता है। उसे केवल रंगमें डूबी हुई तूलिका चलाने भरकी देर होती है। किन्तु अध्यापक बेचारेको बड़े संकटका सामना करना पड़ता है। उसके छात्र कोरे श्वेत कागज़ नहीं होते। वे अनेक रंगोंमें रँगे हुए, पुते हुए और कभी-कभी बड़े मैले कागज होते हैं। अतः उसे अनेक प्रकारके बालकोंसे पाला पड़ता है। एक ओर तो उसे माँ-बापके दुलारमें बिगड़े हुए, मारने-पीटनेसे कुंठितबुद्धिवाले, ठेठ गाँवके फूहड़ तथा अबोध मंडलमें पले हुए, कुसंग और कुमित्रों-द्वारा बिगाड़े हुए, क्रोधी, पागल, बकवादी या झगड़ालू माता-पिताओंके संसर्गमें रहनेवाले, मूर्ख, नटखट, ढीठ, हठी या सनकी बालकोंसे काम पड़ता है और दूसरी ओर सभ्य, सुशील और शिक्षित परिवारोंमें पले हुए कुशाग्र-बुद्धि, प्रसन्नचित्त, विनयी और सुशील बालक मिलते हैं। अतः उसे ऐसे पट्टोंपर चित्र बनानेका काम दिया जाता है जिनपर या तो मैल चढ़ी हो, धब्बे पड़े हों या जिनपर पहलेसे ही कुछ विचित्र चित्र बने हुए हों। ऐसी अवस्थामें अध्यापक घबरा जाता है, पागल हो उठता है, झल्ला जाता है और इस आवेशमें वह अपना कर्तव्य

भूलकर पहले प्रकारके छात्रोंके लिये तो बाँसके डंडे, बेंत या शहतूतकी कमचीका आश्रय लेता है और दूसरे प्रकारके छात्रोंकी ओरसे वह उदासीन हो जाता है, आँखें मूँद लेता है। परिणाम यह होता है कि उसके सभी चित्र बीभत्स उतरते हैं।

अध्यापक क्या करे ?

अतः अध्यापका सर्वप्रथम कर्तव्य यह है कि वह अपने संपर्कमें आनेवाले बालकोंके सम्बन्धमें सब बातें भली प्रकार जान ले कि वे कहाँ-से आए हैं, किस वातावरणमें उनका पागलनपोषण हुआ है, किसकी संगतिमें रहे, घरपर उनके साथ कैसा व्यवहार होता है, घरकी दशा कैसी है इत्यादि। बालकोंके सहज और संसर्ग-जन्य संस्कारोंका पूरा ब्यौरा उसके पास रहना चाहिए जिकके आधारपर उसे यह निश्चय करना चाहिए कि इनमेंसे कौनसा संस्कार रगड़कर दूर कर दिया जाय और किस संस्कारको कौनसे रंगसे रँगकर अधिक उज्ज्वल तथा प्रकाशमान बना दिया जाय।

छात्रोंके जीवनका परिष्कार

यह कार्य अत्यन्त कठिन, यहाँतक कि असम्भव-सा ही जान पड़ता है। अध्यापक सहस्राक्ष नहीं है, सहस्राबाहु भी नहीं है और उसमें कोई अलौकिक दिव्य शक्ति भी नहीं होती। वह एक मनुष्य ही तो है, दो आँखों, दो हाथ-पैरोंवाला। वास्तवमें जिस अध्यापकको नित्य कई कक्षाओंमें कई सौके लगभग छात्रोंकी देखभाल करनी पड़ती हो, उसके लिये यह काम कुछ कठिन ही जान पड़ता है। किन्तु जहाँ इच्छा होती है वहाँ साधन भी मिल जाते हैं। जो लोग कक्षाध्यापक होते हैं वे तो सरलतासे तीस या बत्तीस छात्रोंके विषयमें पूरी जानकारी रख सकते हैं, किन्तु अन्य अध्यापकोंके लिये यह काम अवश्य कठिन है। योरोप और अमेरिकाके स्कूलोंमें प्रायः ऐसा प्रबन्ध है कि भरती होनेवाले प्रत्येक छात्रके सम्बन्धमें सभी ज्ञातव्य बातें पहलेसे

जाँच ली जाती हैं और उसके पश्चात् उसकी मानसिक अवस्थितिके अनुसार उसकी शिक्षा-दीक्षा होती है। राजनीतिक दासताने हमें ऐसा पंगु बना दिया था कि हममें दायित्वकी भावना तो दूर रही, विचारने-की शक्ति भी लुप्त हो गई थी किन्तु अब स्वतंत्र भारतमें यदि अध्यापक लोग मन, वचन और कर्मसे इस प्रकार छात्रोंके जीवनकी छानबीन कर सकें तो पाठशालाओंसे निकलनेवाले युवक निकम्मे, बेकार और चरित्रहीन नहीं दिखाई पड़ेंगे।

मनुष्यका बच्चा पशु कैसे बन जाता है ?

छात्रोंकी प्रकृति जाननेके पश्चात् अध्यापकको यह भी जान लेना चाहिए कि अभिभावककी इच्छाके साथ-साथ छात्रकी क्या इच्छाएँ हैं। वह बेंत देखकर काँप उठता है, लाल-लाल आँखें उसके उल्लास-को ठंढा कर देती हैं, कठोर वचन उसके हृदयको चूर-चूर कर देते हैं, असभ्य व्यवहारसे उसके आत्म-सम्मानको ठेस लगती है और इस प्रकारके जघन्य कृत्योंको देखते-देखते, सहते-सहते उसे अभ्यास हो जाता है, उसका आत्मा चुपकेसे सो जाता है, आत्मसम्मान हवा हो जाता है, वह अपनी योग्यता और समर्थतामें सन्देह करने लगता है। मनुष्यका बच्चा धीरे धीरे पशु बनने लगता है—मूक पशु—जिसे कोड़े मारते जाइए, वह चूँ तक न करेगा। ऐसे हत्यारे अध्यापकोंके हाथमें पड़े हुए बालक आगे चलकर निकम्मे, भीरु, चाटुकार और निरुद्यमी हो जाते हैं।

बालक चाहता है प्यार, गुण, सम्मान, स्वतन्त्रता

बालक भी कुछ आशा करता है। वह प्यार चाहता है। वह आपकी लाल आँखें देख-देखकर डरता है। आप अपनी मुद्रा बदल डालिए। वह आपके डंडेको शंकित नेत्रोंसे देखता है और कभी-कभी वह चाहता है कि इस डंडेको कहीं चुरा दिया जाय। तो आप ही अपने डंडेको अग्निसमाधि क्यों नहीं दे देते। वह आपके कसरती

भुजदंडोंको देखकर काँप उठता है और भगवानसे सदा यही मनाता है कि आपके हाथ टूट जायँ। तो आप ही अपने हाथको वशमें क्यों नहीं रखते। फिर वह यह भी चाहता है कि उसमें कुछ गुण आवें, वह भी संगी-साथियोंपर धाक जमावे। पर आप तो उसकी बात ही नहीं सुनते, दुत्कार देते हैं। वह कुत्ता नहीं है, उसमें भी हृदय है। छोटा है तो क्या, वह भी अपने मानापमानको भली भाँति समझता है। जाइए, वह आपके पास नहीं आवेगा। जानते हैं आपने कितना भारी अपराध किया है? आपने एक ऊपर चढ़ते हुए बालकको उसकी टाँग पकड़कर नीचे खींच लिया है। उसकी टाँगें टूट गई हैं। अब वह ऊपर न चढ़ पावेगा। उसमें साहस नहीं रहा। वह सदाके लिये भयभीत हो गया। पर वह कभी-कभी यह भी चाहता है कि पेड़पर चढ़े, फल तोड़े और अपने साथियोंको भी खिलावे। आप क्या उसे पेड़पर चढ़ने देकर उसे हाथ-पैर तोड़ने देंगे और चोरी सिखावेंगे? मैं जानता हूँ आप ऐसा कभी नहीं चाहेंगे पर यदि उसके मनमें ऐसी भावनाएँ आई हैं तो उसका कारण कौन है? कारण भी तो आप ही हैं। यदि आप उसकी शक्तिको उचित मार्गपर न मोड़ेंगे और उसे अपनी शक्तिका प्रयोग करनेका उचित अवसर नहीं प्रदान करेंगे तो वह अवश्य ही बेढंगे काम करना प्रारम्भ कर देगा।

अच्छे संस्कार बढ़ें, बुरे दूर हों।

अतः प्रत्येक अध्यापकको अपने सम्पर्कमें आनेवाले छात्रोंके विषयमें पूरी जानकारी रखनी चाहिए और सदा यह प्रयत्न करते रहना चाहिए कि छात्रोंमें अच्छे संस्कार बढ़ें, बुरे संस्कार दूर हों और वे एकाग्रचित्त होकर उत्सुकताके साथ अध्यापक-द्वारा दिए जानेवाले संस्कार और ज्ञानका संचय करें।

गुरु और शिष्य

गुरु और शिष्यका संबंध केवल पढ़ने-पढ़ानेतक ही परिमित नहीं

समझना चाहिए। गुरुका यह कर्त्तव्य है कि वह अपने चरित्र, विद्या, आचरण और सद्भावनासे निरन्तर, जब अवसर मिले तभी, अपने शिष्योंको अनुप्राणित करता चले। कक्षामें, कक्षाके बाहर, खेलभूमिमें, सड़कपर, गोष्ठीमें, सभामें, जहाँ भी छात्र हों वहाँ अध्यापकको इस प्रकारका आदर्श अनुकरणीय व्यवहार करना चाहिए कि छात्रोंको स्वयं वैसा ही आचरण करनेके लिये प्रोत्साहन मिले। इसी प्रकार अध्यापकका यह भी कार्य है कि वह स्वयं निरन्तर अध्ययन करता रहे और अपने ज्ञानका भांडार सदा अपने छात्रोंके लिये खुला रक्खे। चतुर अध्यापक ज्ञान-प्रदान करनेके लिये अवसरकी प्रतीक्षा नहीं करते, वे अवसरकी सृष्टि करते हैं और कथा, आख्यायिका, उदाहरण तथा दृष्टान्तके द्वारा आवश्यक ज्ञान दे डालते हैं। अतः अध्यापकको सजग और सचेष्ट होकर छात्रोंके चरित्र और ज्ञानकी वृद्धिमें निरन्तर योग देते रहना चाहिए।

६

छात्रोंकी भर्ती और अग्रारोहण

भर्ती होनेकी कसौटी : योग्यता

विद्यालयमें छात्रोंका प्रवेश आचार्य्यकी सबसे पहली समस्या है। बालकोंके अभिभावक सदा यह प्रयत्न करते हैं कि उनके बालक योग्यतासे अधिक ऊँची कक्षामें भर्ती कर लिए जायँ। उन्हें अपने बालककी योग्यतापर बहुत अधिक विश्वास रहता है। वे समझते हैं कि उन्होंने जिस ढंगसे बालकको शिक्षा दी है वह बालककी योग्यता-के लिये उचित और आवश्यक है। किन्तु आचार्यको भर्तीके समय अभिभावकके व्यक्तित्व अथवा अनुरोधपर कभी ध्यान नहीं देना चाहिए। उसका पवित्र कर्त्तव्य यह है कि जितने विद्यार्थी भर्ती होने आवें उन्हें भली प्रकार जाँचकर जो जिस कक्षाके योग्य समझा जाय उसमें उसे भर्ती कर ले। आचार्यका यह कर्त्तव्य है कि किसी विद्यार्थीको किसी कक्षामें भर्ती करते समय सत्यता और शुद्ध हृदयके साथ विद्यार्थीके भविष्यका और उसकी रुचिका ध्यान रक्खे। जो आचार्य इस विषयमें असावधान और उदार होकर किसी छात्रको आगेकी कक्षामें भर्ती कर लेता है वह उस छात्रके साथ, जातिके साथ और देशके साथ विश्वासघात करता है। अभिभावक तो यह समझता है कि आचार्य बड़े कृपालु हैं और स्वयं आचार्य भी यह समझता है कि मैंने दया दिखलाई है किन्तु वास्तवमें इन दोनोंने उस विद्यार्थीका भविष्य नष्ट कर डाला क्योंकि वह बालक अपने अन्य चतुर साथियोंके साथ सदा अपने मनमें यही अनुभव करता रहेगा कि मैं अन्य

छात्रोंकी अपेक्षा हीन हूँ और कभी आगे नहीं बढ़ सकता हूँ। यह आत्महीनताकी भावना सदा उसके जीवनमें व्याप्त रहेगी और उसका जीवन दुःखमय और क्षोभमय बना डालेगी।

वर्ग-विभाजन

भर्ती करनेके समय छात्रकी मानसिक अवस्था, शारीरिक अवस्था और विद्याका संस्कार तीनोंके अनुसार अलग-अलग उनका वर्ग-विभाजन करना चाहिए। यदि एक ही बौद्धिक योग्यताके विद्यार्थी विभिन्न अवस्थाओंके हों तो उन्हें कक्षाके विभिन्न विभागोंमें रखना चाहिए। न तो छोटे और बड़े बालकोंको एक कक्षामें एक साथ रखना चाहिए और न पैंतीससे अधिक छात्र एक कक्षामें रखने चाहिएँ। प्रत्येक सच्चे आचार्यको यहाँ भी देखना चाहिए कि वर्गीकरण कर चुकनेके पश्चात् प्रत्येक अध्यापक अपनी कक्षाके विद्यार्थियोंमेंसे प्रत्येक-की प्रवृत्ति, योग्यता, रुचि, आवश्यकता, आकांक्षा, विशेषता, त्रुटि और सम्भावनाओंका अध्ययन करके प्रत्येक बालकके व्यक्तित्वको समझनेका प्रयत्न करे। यद्यपि कक्षा-प्रणालीकी शिक्षामें छात्रोंके व्यक्तित्वपर बहुत ध्यान रक्खा नहीं जा सकता किन्तु फिर भी यदि अध्यापकोंका सहयोग हो तो इस कक्षा-प्रणालीमें भी छात्रोंके व्यक्तिगत विकासका अध्ययन किया जा सकता है और उसपर ध्यान दिया जा सकता है।

छात्रकी रुचि और कक्षा-प्रणाली

कक्षामें जितने विषय पढ़ाए जाते हैं उन सबमें सबकी रुचि नहीं हो सकती। कुछ विद्यार्थी साहित्यसे स्नेह रखते हैं तो कुछ चित्र-कलासे। किसीका मन गणितमें लगता है तो किसीका भूगोलमें, किन्तु कक्षा-प्रणालीमें इन सबको एक डण्डेसे हाँकना पड़ता है। जन-शिक्षाके लिये दूसरा कोई सरल मार्ग भी नहीं है। इसलिये उसे प्रयत्न करना होगा कि प्रत्येक विद्यार्थीको कक्षाका साधारण काम तो

करना ही पड़े, किन्तु साथ-साथ उनकी विभिन्न विशेष प्रवृत्तियोंका भी पोषण होता चले। यह तभी हो सकता है जब कि कक्षाध्यापक अपने विद्यार्थियोंकी उन्नतिमें स्वयं रस ले और प्रत्येक विद्यार्थीकी प्रकृति और प्रवृत्तिके अनुकूल उसकी सहायता करता चले। यदि कोई बालक इतिहासमें अधिक रस लेता है तो आचार्यको चाहिए कि उसके लिये पुस्तकालयसे क्रमिक इतिहासकी पुस्तकें मँगवाए और छात्रको उस विषयमें अधिक ज्ञान प्राप्त करनेकी सुविधा दे। सरकारी शिक्षा-विभागद्वारा निर्धारित पाठ्यक्रमको ही शिक्षाका परम साध्य नहीं मान लेना चाहिए। वह तो साधारण व्यवस्थाके लिये आधार मात्र है। जो छात्र उससे आगे अध्ययन करना चाहें उन्हें किसी प्रकारकी बाधा नहीं होनी चाहिए वरन् आगे बढ़नेवाले ऐसे छात्रोंके लिये सब प्रकारकी सामग्री सदा उपलब्ध करते रहना चाहिए।

आचार्यकी असुविधा

भारतके साधारण विद्यालयोंके आचार्य इस विषयमें छात्रोंकी सहायता नहीं कर सकते। टाट और टूटा श्यामपट्ट ही जिस विद्यालयकी संक्षिप्त निधि हो उसमें आचार्यकी ओरसे अधिक सहायता-संभव नहीं। वास्तवमें दरिद्रता इतना बड़ा अभिशाप है कि वह शिक्षा को भी अपने चंगुलसे मुक्त नहीं होने देता। किन्तु फिर भी जो आचार्य वास्तवमें शिक्षक होंगे और जिनमें शिक्षा देनेकी निष्काम भावना होगी, जो शुद्ध कर्त्तव्य-बुद्धिसे शिक्षाके क्षेत्रमें पदार्पण करेंगे वे पास-पड़ोसके धनिकों, भूमि-पतियों, व्यापारियों तथा सरकारी अधिकारियोंसे प्रार्थना, अनुरोध तथा अभ्यर्थना करके छात्रोंकी, उन्नतिके उपादान अवश्य एकत्र कर लेते हैं।

धनी और दीनका भेद क्यों?

प्रायः यह देखा जाता है कि विद्यालयमें धनी विद्यार्थियोंपर अधिक ध्यान दिया जाता है और दीनोंकी उपेक्षा की जाती है।

यह आरोप आचार्य और अध्यापक दोनोंपर समान रूपसे लगाया जाता है और यह सचमुच कलंककी बात है कि सरस्वतीके मंदिरमें भी लक्ष्मीका पूजन हो। आचार्यको अपने विद्यालयमें कृष्ण और सुदामामें कोई अन्तर नहीं करना चाहिए और विद्या-दान करनेमें तथा छात्रको प्रोत्साहन देनेमें किसी प्रकारका कपट और संकोच नहीं करना चाहिए। जो बालक जिस प्रकारके प्रोत्साहन या सहयोगके योग्य हो उसे निष्पक्ष रूपसे प्रोत्साहन और सहयोग मिलना ही चाहिए।

अभिभावक

भारतीय विद्यालयोंमें आचार्यके सबसे बड़े शत्रु अभिभावक होते हैं और विशेष रूपसे वे अभिभावक, जो या तो विद्यालयके अधिकारी होते हैं या जिनका या राजनीतिक पद होता है। वे अपने अपने बालकके अग्रारोहणके समय पदका उपयोग करना चाहते हैं और इस प्रकार विद्यालयकी सारी व्यवस्था नष्ट कर देते हैं। ऐसी स्थितिमें आचार्यके लिये एक मात्र उपाय यह है कि वह परीक्षाफल घोषित करते समय और भरती करते समय विद्यालयकी प्रबंध-कारिणी समितिके मंत्रीको भी अपना विश्वास-पात्र बना ले और अग्रारोहण अर्थात् अगली कक्षामें छात्रोंको चढ़ानेका दायित्व उसके सिरपर भी डाले। आचार्य जो भी निर्णय करे उसमें कभी कोई हेरफेर न करे और यह घोषणा कर दे कि जो परीक्षा-फल प्रकाशित किया गया है वह अध्यापकोंकी सम्मति, परीक्षा-फल, छात्रकी योग्यता और उसके हितका ध्यान रखकर प्रकाशित किया गया है। वार्षिक परीक्षा होनेसे पूर्व ही अयोग्य विद्यार्थियोंको बुलाकर स्पष्ट कह देना चाहिए कि तुम अपनी कक्षाके साथ चलनेमें असमर्थ हो इसलिये या तो प्रयत्न करके कक्षाके साथ चलो अन्यथा वार्षिक परीक्षामें तुम्हारा सफल होना संभव नहीं है।

छात्रको सूचना देनेके साथ-साथ अभिभावकको भी सूचना दे देनी चाहिए जिससे उसे पीछे आरोप लगानेका अवसर न मिले।

छात्रका अनुत्तीर्ण होना आचार्यके लिये कलंक

यहीं एक बात हम स्पष्ट रूपसे समझा देना चाहते हैं कि किसी भी कक्षामें किसी विद्यार्थीका अनुत्तीर्ण होना वहाँके आचार्य और अध्यापकोंके लिये कलंककी बात है। भर्त्ती करते समय ही छात्रको भली भाँति ठोक बजाकर किसी कक्षामें प्रविष्ट करना चाहिए। उसके पश्चात् आचार्य और अध्यापकोंपर यह नैतिक भार आ पड़ता है कि उनके छात्र निश्चित रूपसे प्रत्येक कक्षामें सफल हों। यदि वे अनुत्तीर्ण या असफल होते हैं तो उसका पूरा आर्थिक और नैतिक दायित्व आचार्य और अध्यापकोंपर आ जाता है। हम मानते हैं कि कुछ छात्रोंकी रुचि पढ़नेमें नहीं होती। ऐसे छात्रोंके अभिभावकोंको बुलाकर उनकी थाती उन्हें सौंप देनी चाहिए और उन्हें स्पष्ट समझा देना चाहिए कि आपका बालक पढ़ेगा नहीं। यदि वृत्ति-परीक्षणके साधन आपके पास हों तो आप अभिभावकोंको अमेरिकाके वृत्ति-निर्देशकों (वोकेशनल गाइड्स) के समान कह सकते हैं कि अपने बालकको अमुक कार्य या व्यवसायमें लगाइए।

सर्वांगीण उन्नति

इस प्रकार छात्रोंकी भर्त्ती करके या उनकी परीक्षा लेकर उन्हें अगली कक्षामें चढ़ाकर जब श्रेणियाँ निर्धारित कर दी जायँ तब आचार्यको शिक्षाकी तथा छात्रोंके सर्वांगीण संवर्धनकी चिन्ता करनी चाहिए। इस सर्वांगीण संवर्धनके तीन मोटे-मोटे रूप हैं—(१) बौद्धिक उन्नति (२) नैतिक तथा सामाजिक आचरण (३) शारीरिक उन्नति। इनमेंसे प्रथमके लिये तो शिक्षा विभागकी ओरसे पाठ्य-क्रम ही निर्धारित होता है किन्तु नैतिक तथा सामाजिक आचरण और शारीरिक विकासके लिये अनेक प्रकारके पाठ्य-क्रमातिरिक्त

विधानोंका अवलंब लिया जाता है जिनका विवरण हम आगे यथास्थान दे रहे हैं।

आचार्यकी स्वतन्त्रता और प्रबन्धसमितियोंका सहयोग

अधिकांश विद्यालयोंमें शिक्षा-व्यवस्था शिथिल और उपेक्षित होनेका कारण यह है कि उन विद्यालयोंकी प्रबन्ध-समितियाँ, उनके मन्त्री, व्यवस्थापक तथा सदस्य कभी आचार्यके साथ सहयोग नहीं करते; उलटे, अवांछनीय अध्यापकोंको नियुक्त करके, व्यवस्थामें अनुचित हस्तक्षेप करके, योग्य और विचारशील आचार्यके कार्यमें हस्तक्षेप करके उसकी व्यवस्था नष्ट करते रहते हैं। ऐसी स्थितिमें वह भी अकर्मण्य हो जाता है और जैसे-तैसे करके विद्यालयकी गाड़ी आधे मनसे खींचता चलता है। सरकारको चाहिए कि विद्यालयोंका पूरा प्रबन्ध आचार्योंको देकर योरोपके आचार्य-विद्यालयों (हेडमास्टर्स स्कूल्स) की भाँति विद्यालय स्थापित करें तो निश्चित रूपसे विनय, शिक्षा और शील सबका स्वस्थ संवर्द्धन हो सकेगा, अन्यथा शिक्षाका सर्वनाश निश्चय और अवश्यंभावी है।

७

पाठ्यक्रम

पाठ्यक्रमका सिद्धान्त

शिक्षाकी व्यवस्था करनेके लिये पाठ्यक्रम निर्धारणके कुछ अत्यन्त व्यावहारिक सिद्धान्त हैं जिनका पालन शिक्षा-विभागको करना ही चाहिए। यह अत्यन्त दुःखकी बात है कि भारतकी कुछ प्रादेशिक सरकारोंने प्रारंभिक अवस्थामें ही, समाज-विज्ञान, और विज्ञान जैसे विषयोंके लिये पुस्तकें निर्धारित करके अत्यन्त अस्वाभाविक रूपसे नन्हें नन्हें छात्रोंके सिरपर एक भारी भार लाद दिया है। उन्हें पहले यह जानना चाहिए कि हम—

१—किसे शिक्षा दे रहे हैं ?

२—क्यों दे रहे हैं ?

३—किस प्रकारसे दे रहे हैं ?

इसके लिये पाठ्यक्रम-निर्धारणके तीन मोटे-मोटे विश्वमान्य सिद्धान्त हैं। हम बालकको प्रारंभसे शिक्षा देना चाहते हैं अत :—

१—मौखिक शिक्षासे आरंभ करके लिखिततक पहुँचाया जाय।

२—प्रकृति-अध्ययनसे प्रारंभ करने ग्रंथ-अध्ययन तक पहुँचाया जाय।

३—खेलकूदके द्वारा स्वयंशिक्षासे आरंभ करके गंभीर अध्यापित शिक्षातक पहुँचाया जाय।

शिक्षा क्यों ?

इन्हीं सिद्धान्तोंके साथ-साथ यह भी जान लेना चाहिए कि

हम अपने बालकोंको क्यों शिक्षा देना चाहते हैं। हमारे उद्देश्य ये हैं—

१—बालकोंको अपने मनकी, अनुभवकी तथा ज्ञानकी बात शुद्ध, कलात्मक, मधुर तथा प्रभावोत्पादक भाषामें मौखिक अथवा लिखित रूपसे व्यक्त करनेकी तथा दूसरोंकी कही या लिखी हुई बात समझनेकी शक्ति प्राप्त हो। [भाषाका ज्ञान]

२—समाजमें शील, सद्भावना, सदाचार और सेवाभावसे व्यवहार करनेकी योग्यता हो [नीति, शिष्टाचार, इतिहास तथा सामाजिक प्रवृत्तियोंके संचालनका व्यवहार-ज्ञान।]

३—सम्मानपूर्ण व्यवसायसे आजीविका कमानेका सामर्थ्य हो [गणित, भूगोल तथा अन्य शास्त्र या विज्ञानोंका अध्ययन]

४—स्वस्थ होकर दूसरोंके श्रद्धाभाजन बनने और दुर्बलोंके रक्षा तथा सहायता करनेकी शक्ति हो। [व्यायाम]

५—अपना मानसिक या कलात्मक संस्कार करके सौन्दर्य-भावना पल्लवित करनेकी प्रवृत्ति हो। [चित्रकला तथा संगीत]

शिक्षण-व्यवस्था

किन्तु ये उद्देश्य किस प्रकार सिद्ध हों। इसके लिये भाषा, नीति, शिष्टाचार, इतिहास, समाज-विज्ञान, गणित, विज्ञान, व्यायाम चित्रकला तथा संगीत आदि विषयोंके अध्ययन और शिक्षणकी व्यवस्था होनी चाहिए। इनमेंसे सब विषयोंको आगे आगेकी कक्षाओंमें निम्नलिखित क्रम और रूपसे व्यवस्थित करना चाहिए—

विषय क्रम

भाषा—[मौखिक तथा लिखित] अक्षर-लेखन, कहानी, वर्णन पत्र-लेखन, कविता, नाटक आदि।

नीति, शिष्टाचार तथा व्यवहार-ज्ञान—[मौखिक तथा उदाहरण-द्वारा] सामाजिक व्यवहारके अवसरोंपर।

इतिहास—[मौखिक] ऐतिहासिक कहानियाँ, महापुरुषोंके जीवनचरित। (इतिहास सदा मौखिक पढ़ाना चाहिए।)

गणित— [मौखिक] गिनती, पहाड़े, गुर, मौखिक जोड़, घटाना, गुणा, भाग। [लिखित] सब प्रकारका व्यावहारिक गणित।

विज्ञान— [मौखिक तथा प्रत्यक्ष ज्ञान] जीवजन्तु, पेड़ पौधोंके रूप, प्रयोग और प्रकृतिका प्रत्यक्ष व्यावहारिक ज्ञान।

व्यायाम—केवल प्रातःकाल या सायंकाल व्यवस्थित व्यायाम, जिसके पश्चात् पौष्टिक जलपानका प्रवन्ध हो।

चित्रकला—प्रायोगिक अभ्यास-द्वारा।

संगीत— समवेत अभ्यास-द्वारा।

पाठ्य-विषयोंके प्रकार

जहाँतक पाठ्य विषयोंका प्रश्न है, इनमें कुछ विषय तो हमारे संस्कारसे संबंध रखते हैं जैसे भाषा, साहित्य, इतिहास तथा धर्म (या दर्शन), कुछ हमारे सामाजिक जीवनसे सम्बद्ध हैं, जैसे भूगोल, नागरिक-शास्त्र, अर्थशास्त्र और गणित, कुछ हमारे मानसिक संस्कार और कलात्मकताको उद्बुद्ध करनेवाले हैं जैसे संगीत, चित्र-कला, मूर्तिकला, काव्य-कला आदि। इसके अतिरिक्त और जितने विषय हैं वे सब मनुष्यकी भावी वृत्तिमें सहायक होते हैं। उनकी कोई सीमा नहीं है और संख्या नहीं है। उनके अंतर्गत खेती, व्यवसाय, आयुर्वेद, लकड़ी-लोहेका काम, घर बनानेका काम, भोजन बनानेका काम, न्यायविधान (लौ या कानून), राजनीति, यंत्र-विद्या, शस्त्र-विद्या आदि सब प्रकारके व्यवसायोंकी विद्याएँ आ सकती हैं। कुछ विषय हमारी सृष्टि-विषयक जिज्ञासाको तृप्त, तुष्ट और जागरित करते हैं जैसे विज्ञान और उसके अनेक अंग विशेषतः जीवविज्ञान, (जूऑलौजी), वनस्पति-विज्ञान (बौटनी), भौतिक विज्ञान

(फ़िज़िक्स), रसायन-विज्ञान (केमिस्ट्री) आदि। अतः छात्रकी संर्वांगीण उन्नतिकी दृष्टिसे पाठ्यक्रम-विचार करना चाहिए।

किस क्रमसे पाठ्य विषय रक्खे जायँ ?

प्रारम्भमें केवल भाषाज्ञान और सरल मौखिक गणितका अभ्यास हो। प्रारंभिक मौखिक भाषाज्ञानमें साधारण शिष्ट-व्यवहार, सूक्तियाँ, दोहे, श्लोक, सूत्र आदि तथा गिनती, पहाड़े और गुर कंठस्थ करा देने चाहिए क्योंकि यही अवस्था—चार वर्षसे सात वर्षतककी—ऐसी होती है जिसमें बालक सरलतासे रुचिपूर्वक कंठस्थ कर लेते हैं। उसी समय यह भी उद्योग करना चाहिए कि बालकको अधिकसे अधिक वस्तुओं, विषयों तथा स्थानोंका परिचय प्राप्त होता चले जिससे किसी विषयमें उसकी रुचि स्थिर हो सके।

इसके पश्चात् पुस्तक-वाचन हो जिसमें ऐसी कथाएँ हों जिनमें जीव-जन्तुओं और मनुष्योंकी प्रकृतिका ज्ञान हो। उसके पश्चात् वाचनकी पुस्तकोंमें ही स्वास्थ्य, भूगोल, ऐतिहासिक कहानियाँ तथा नीति-शिष्टाचार सबका समावेश कर लेना चाहिए अर्थात् अन्य पाठ्यविषयोंका समावेश भाषाकी पुस्तकोंमें ही कर लेना चाहिए। बहुत आगे चलकर इतिहास तथा भूगोलको अलग विषय बनाकर शिक्षा देनी चाहिए किन्तु विद्यालयके प्रथम छः वर्षोंमें भाषाकी पुस्तक छोड़कर कोई दूसरी पुस्तक बालकोंको नहीं देनी चाहिए। शिष्टाचार, शील तथा विनयकी शिक्षाके लिये ऐसे अवसर तथा संयोग उपस्थित करने चाहिए कि अपने गुरुओंके व्यवहारसे ही वे सब सीख जायँ। यह स्मरण रखना चाहिए कि कभी सीधे उपदेश न दिया जाय। संयोगों और अवसरोंसे छात्रोंको स्वयं शीलकी शिक्षा मिल जायगी। इसका तात्पर्य यह है कि बालककी मानसिक समर्थताका ध्यान रखकर विषयोंका क्रम और विस्तार रखना चाहिए अर्थात् सब विषय बढ़ाते चलनेकी प्रणाली (अनुक्रम-वृद्धि या कन्सेंट्रिक मेथड) से रखने चाहिए।

पाठ्यक्रममें कौनसे विषय नहीं रखने चाहिए—

आजकल पाठ्यक्रम-निर्धारणमें बड़ी भयंकर अराजकता फैली हुई है। जो विषय स्वयं छात्रोंकी शासनके लिये अथवा विशेषज्ञोंके लिये हों उन्हें कभी पाठ्यक्रममें नहीं रखना चाहिए, जैसे मनोविज्ञान जीव-विज्ञान, कामशास्त्र, शिक्षाशास्त्र, शरीरशास्त्र तथा नागरिकशास्त्रमें नगरपालिका, जनपद-पालिका तथा राष्ट्र-शासनका अंश, क्योंकि इनके पढ़नेसे छात्र अपने अध्यापकोंकी वृत्तियोंका विश्लेषण करने लगेगा, उस ज्ञानसे दूसरोंको ठगनेका विचार करेगा या उसके मनमें ऐसे मानसिक द्वन्द्व या संशय उत्पन्न हो जायँगे कि उससे मानसिक व्यथा भी उत्पन्न हो सकती है। आजकल जो आधार (बेसिक शिक्षा) शिक्षाका आडम्बर खड़ा किया गया है उसमें केवल हस्तकौशल ही न रखकर आयुर्वेद जैसे विषय भी रखने चाहिए जिससे वास्तविक जीविका-साधनके साथ लोक-कल्याण भी साधा जा सके। किन्तु सर्वश्रेष्ठ बात यह है कि हस्तकौशलको शिक्षाका आधार बनानेके बदले भाषाको ही ज्ञानका आधार बनाना चाहिए।

पुस्तकोंके बदले पाठ्यविषय

आजकल पुस्तकोंके लेखन, मुद्रण, प्रकाशन तथा पाठ्ययोजनामें जिस प्रकारके भ्रष्टाचार व्याप्त हैं उन्हें देखते हुए और यों भी आवश्यक यह है कि पाठ्यक्रममें केवल इतना ही निर्देश होना चाहिए कि किस कक्षामें कौनसे विषयका कितना अंश पढ़ाया जाय। शेष कार्य अर्थात् पुस्तकोंका निर्धारण, विषयक्रम आदि अध्यापकोंपर छोड़ देना चाहिए।

पाठ्यक्रमका चयन

वर्तमान शिक्षा-पद्धतिकी सबसे भयंकर और आश्चर्यजनक विडंबना यह है कि अध्यापकों या आचार्योंको पाठ्यक्रम निर्धारित करने या चुननेका कोई अधिकार नहीं है। यह काम प्रत्येक प्रान्तका शिक्षा-विभाग स्वयं करता है। इसका परिणाम यह हुआ है कि

पाठ्यक्रम चुननेवाले सदस्योंके सम्बन्धमें यह व्यापक अपस्तुति है कि वे लोग न तो भली भाँति पाठ्य-पुस्तकोंका परीक्षण करते हैं, न मनोवैज्ञानिक कसौटीके अनुसार पाठ्य-विषयका प्रकार, क्रम, रूप और मान स्थिर करते हैं, वरन प्रकाशकोंके हाथके खिलौने बनकर उनकी दी हुई चाँदीकी गाड़ियोंपर बैठकर, चाँदीके उपनेत्रोंसे परीक्षण करके उनके लोहेको सोना बनाते चलते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि जो कुछ कूड़ा-कचरा प्रकाशकने छापकर रख दिया, वही पाठ्यक्रम बन जाता है। बड़े आश्चर्य की बात है कि जिस शिक्षा-विभागके अधीन अनेक शिक्षक-विद्यालय (ट्रेनिंग स्कूल और ट्रेनिंग कौलेज) हों, जिनमें नित्य यही पढ़ाया जाता हो कि किस कक्षाको, क्या विषय, कितना, किस क्रमसे, किस प्रणालीसे पढ़ाया जाय उनकी पूर्णतः उपेक्षा करके लल्लू-बुद्धुओंसे असंगत पाठ्यक्रम और पाठ्य-पुस्तकें तैयार कराकर हमारे अध्यापकों और बालकोंपर अनधिकृत भार लादा जा रहा है। आचार्यका काम केवल यही रह जाता है कि वह निर्धारित पाठ्य-क्रमको अपने अध्यापकोंके द्वारा निर्दिष्ट समयमें पूरा करा दे। प्रान्तीय शिक्षा-विभागकी ओरसे जो पाठ्य-क्रम निर्धारित होता है वह प्रत्येक कक्षाके लिये एक-एक अवधिका होता है और यह आवश्यक समझा जाता है कि अध्यापकगण उतने समयमें पाठ्य-क्रम समाप्त कर दें। साधारण आचार्य इस निर्धारित पाठ्य-क्रमको ही येन केन प्रकारेण वर्ष भरके भीतर समाप्त करा डालना अपना परम ध्येय समझते हैं। किन्तु जो आचार्य शिक्षाका तत्त्व समझते हैं और जो हृदयसे यह चाहते हैं कि हमारे बालकोंकी शारीरिक, बौद्धिक और नैतिक उन्नति हो, वे इसी पाठ्य-क्रमको इस प्रकार व्यवस्थित कर देते हैं कि पाठ्य-क्रम भी पूरा हो जाय और साथ-साथ शिक्षाका उद्देश्य भी सिद्ध होता चले। ऐसे आचाय अत्यन्त उपादेय विषय चुन लेते हैं और ऐसी विधिसे पढ़ानेकी योजना करते हैं कि उन विषयोंकी पूरी उपादेयता सिद्ध हो जाय।

पाठ्य-विषयोंकी उपादेयता

उपादेयताका तात्पर्य यह है कि पाठ्यक्रममें बालकके मानसिक विकास, निरीक्षण-कौशल और परीक्षण-सामर्थ्यका विकास हो, उसकी विवेचना-शक्ति प्रखर हो, कल्पना-शक्ति और विचार-शक्ति व्यवस्थित हों और उसके चरित्रका निर्माण हो। विद्यालयका उद्देश्य ही यह है कि वह जीवन और संसारके लिये बालकको पक्का बनाकर भेजे। यदि बालकमें चरित्रबल होगा, यदि उसकी विवेचना-शक्ति सिद्ध हो गई होगी तो वह किसी भी वृत्तिमें असफलता नहीं पा सकेगा। पूर्णांगी और स्वस्थ शरीर, आत्म-संयम और आत्मावलम्बनसे युक्त चरित्र, विचारशील मस्तिष्क और विवेकवती बुद्धि जिसके पास होगी वह जीवनके किसी भी अखाड़ेमें पछाड़ नहीं खा सकता।

पाठ्यक्रम कैसे व्यवस्थित किया जाय ?

अतः जो आचार्य उदार उद्देश्यों और उच्च आदर्शोंके अनुसार अपना विद्यालय चलाना चाहते हों, उनके लिये यह आवश्यक है कि वे अपना पाठ्य-क्रम निम्नलिखित परिस्थितियोंके अनुसार व्यवस्थित और समन्वित करें—

(१) शिक्षा-विभाग द्वारा निर्धारित पाठ्य-क्रम।
(२) स्थानीय परिस्थितियाँ और आवश्यकता।
(३) विद्यालयमें आनेवाले विद्यार्थियोंकी शारीरिक और बौद्धिक स्थिति।
(४) स्थानीय जलवायु, स्वास्थ्य और प्राकृतिक वातावरण।
(५) अध्यापकोंकी योग्यता और संख्या।
(६) विद्यालयका भवन और सामग्री।
(७) पढ़ाईकी अवधि।
(८) अन्य स्थानीय विशेषताएँ।
(९) सामाजिक और राष्ट्रीय आवश्यकता।

परिस्थितिका क्या अर्थ है ?

इसका तात्पर्य यह है कि जिस वातावरणमें विद्यालय स्थित हो वहाँके लोगोंके विचार और उनकी आवश्यकताओंको ध्यानमें रखकर विद्यालयका पाठ्य-क्रम चलाना चाहिए और साथ ही शिक्षा-विभाग-द्वारा निर्धारित पाठ्य-क्रम भी पूरा करते चलना चाहिए। कानपुर जैसे किसी व्यापारी नगरके पास स्थित विद्यालयके छात्रोंको कृषि सिखाना, बंबई जैसे पुतलीघरोंसे भरे हुए नगरके विद्यालयमें दर्शनकी शिक्षा देना और काशी जैसे सांस्कृतिक नगरके विद्यालयोंमें यांत्रिक-शिक्षा देना वैसा ही है जैसे दूर-दृष्टिवालेको पास-दृष्टिका चश्मा देना और पास-दृष्टिवालेको दूर-दृष्टिका। अतः आचार्यका प्रथम कर्त्तव्य यह है कि शिक्षा-विभाग-द्वारा निर्धारित विषयोंको इस प्रकार व्यवस्थित करे कि छात्रोंकी मुख्य रुचि और प्रवृत्तिकी बातोंको अधिक समय और अधिक महत्त्व दिया जाय और यदि स्थानीय परिस्थितियोंके अनुसार यह आवश्यक हो कि कुछ विषय और बढ़ा दिए जायँ तो आचार्यको निःसंकोच होकर छात्रोंके हितकी दृष्टिसे ऐसे विषय स्वयं बढ़ा लेने चाहिए, चाहे शिक्षा-विभागने उन्हें माना हो या न माना हो।

८

दिनचर्या

दिनचर्या

पाठ्यक्रमके पश्चात दूसरा स्थान दैनिक कार्य-विभाजनका है। यह दैनिक कर्मविभाजन या दिनचर्या (टाइमटेबिल) जितने अधिक कौशलके साथ निर्माण किया जायगा उतना ही अधिक पाठ्यक्रम सुव्यवस्थित होगा। दिनचर्या-निर्माण करनेमें यह ध्यान रखना चाहिए कि पाठ्यक्रमकी भी पूर्ति हो, कक्षाकी आवश्यकताएँ भी पूरी हों और विभिन्न कक्षाओंके पाठ्य-क्रममें भी परस्पर संघर्ष न हो वरन वे एक दूसरेसे सम्बद्ध और अन्योन्याश्रित हों।

दिनचर्या बनानेमें यह ध्यान रखना चाहिए कि प्रत्येक कक्षाकी दिनचर्यामें—

(१) पाठ्य-क्रमके सब विषय आ जायँ और उन्हें समानुपात समय दिया जाय।

(२) प्रत्येक विषय इस दृष्टिसे उपयुक्त समयपर रक्खा जाय कि वह दिनके किस पहरमें, किस समय पढ़ाना चाहिए और उसके लिये छात्रोंको कितना मानसिक श्रम करना पड़ेगा।

(३) प्रत्येक पाठके लिये उचित समय दिया जाय।

(४) बारी-बारीसे मौखिक और लिखित कार्यकी व्यवस्था हो।

(५) मनोविनोद, शारीरिक-शिक्षा तथा व्यवस्थित खेलोंके लिये उचित समय दिया जाय।

(६) जिन विभिन्न कक्षाओंको एक स... मिलाकर पढ़ाया जा जा सके उनका ध्यान रक्खा जाय।

(७) जिन विषयोंमें अधिक मानसिक श्रम पड़ता हो वे दिनके प्रारम्भिक समयमें रक्खे जायँ किन्तु जिनमें मानसिक श्रम कम पड़ता हो वे दैनिक कार्यके पिछले भागमें रक्खे जा सकते हैं। यह ध्यान रखना चाहिए कि जिन विषयोंके पढ़नेमें अधिक मानसिक श्रम पड़ता हो यदि उन्हें किसी दूसरे समय रखना अनिवार्य हो तो उसके पहले छात्रोंको विश्राम अवश्य मिल चुका रहना चाहिए जैसे—बीचकी छुट्टी या जलपानकी छुट्टीके अनन्तर भी गणित आदि कठिन विषय रक्खे जा सकते हैं।

(८) सब अध्यापकोंको इस क्रमसे समान कार्य दिया जाय कि किसीको लगातार पढ़ाते ही न रहना पड़ जाय।

(९) शिक्षा-विषयोंको अर्थात् जिन विषयोंको ध्यानसे, अधिक कौशलसे पढ़ाना हो उन्हें अधिक समय (बड़े घण्टे और सप्ताहमें अधिक घंटे) देना चाहिए।

(१०) प्रयोगात्मक-विषयों (चित्रकला, हस्त-कौशल, संगीत, कृषि, बढ़ईगिरी आदि) के लिये दिनके अन्तिम भागमें लंबे घंटे देने चाहिए।

(११) वर्णनीय विषयों (इतिहास, भूगोल, अर्थशास्त्र, नागरिकता) के लिये छोटे घंटे और मौखिक शिक्षणकी व्यवस्था होनी चाहिए। ये विषय श्रव्य-दृश्य प्रणाली (औडियो-विजुअल मैथड) से पढ़ाने चाहिए।

(१२) छः घंटेसे अधिक घंटे प्रति दिन, और ४५ मिनटसे अधिक प्रति घंटेसे अधिक कार्यक्रम नहीं रखना चाहिए।

(१३) दिनचर्या दो प्रकारकी हो, एक प्रत्येक कक्षाके क्रमसे (क्लास-वाइज़) और दूसरी (टीचर-वाइज़) अध्यापकके क्रमसे।

छात्रावासकी दिनचर्या

विद्यालयकी दिनचर्याके अतिरिक्त छात्रावासकी दिन-चर्याका भी विधान करना चाहिए, और वहां प्रातःकालसे लेकर विद्यालय जानेतक तथा विद्यालय-समाप्तिसे लेकर रात्रि-शयन तकका कार्यक्रम बना कर रख लेना चाहिए और इस दिनचर्याकी भी एक प्रति आचार्यके पास रहनी चाहिए।

व्यक्तिगत दिनचर्या

इसके अतिरिक्त अध्यापकों और कक्षाध्यापकोंका यह कर्त्तव्य होना चाहिए कि वे कक्षाके प्रत्येक छात्रकी आवश्यकताके अनुसार उनके गृहाध्ययन तथा स्वास्थ्यके लिये दैनिक चर्या निश्चित करें जिसमें इस बातका ध्यान रहे कि—

१—रटनेका काम तड़के सूर्योदयसे डेढ़ घंटे पहलेसे हो।

२—लिखने-पढ़नेका काम दिनमें हो, रातको न हो।

३—कथा-वार्त्ता सुननेका काम रातको हो।

४—गर्मीमें दिन-दोपहरको और बरसातमें ऊमसके दिनोंमें पढ़नेका काम कम हो। वर्षामें परिभ्रमणका और गर्मीमें कथा-कहानी सुनने या खुले वायु-पूरित स्थानमें शिक्षाप्रद चल-चित्र देखनेका विधान हो।

दिनचर्यामें अन्य कार्य

इनके अतिरिक्त व्यापक वर्षचर्या बना लेनी चाहिए जिसमें वर्षके पर्व उत्सव, भ्रमण, नाटक, प्रतियोगिता, खेल, परीक्षा तथा अन्य प्रवृत्तियोंकी तिथियोंका विवरण हो।

बहुतसे शिक्षा-शास्त्रियोंका मत है कि दैनिक पढ़ाई दो खंडोंमें होनी चाहिए, तीन घंटे प्रातःकाल और दो घंटे सायंकाल। मानसिक श्रम तथा अधिक विवेचनवाले विषय प्रातःकाल पढ़ाए जायं तथा संगीत, शिल्प और अन्य हस्त-कौशल तथा शारीरिक श्रमके विषय

तीसरे पहर सिखाए जायँ और उसके अनन्तर सूक्ष्म जलपानके पश्चात् सब विद्यार्थियोंको खेलके मैदानमें भेज दिया जाय। जापान, संयुक्तराज्य अमेरिका, दक्षिणी रूस, इटली और मैक्सिकोमें इस प्रकारकी दुहरे खेवेकी शिक्षा चल रही है। भारतवर्षमें भी यदि यह प्रणाली प्रचलित कर दी जाय तो अधिक लाभ हो सकता है। भारतीय शिक्षा-शास्त्रियोंका उसके विरुद्ध एक ही तर्क है कि प्रायः आचार्य-गण विद्यालयमें नहीं रहते। उनके लिये दो बार आना-जाना असुविधा-जनक होगा। किन्तु यदि आचार्योंके लिये निवासकी व्यवस्थाका विधान भी शिक्षा-विभाग-द्वारा निर्धारित हो जाय तो यह कठिनाई दूर हो सकती है। किन्तु इसके अतिरिक्त एक दूसरी बड़ी कठिनाई यह है कि बहुतसे छात्र कोसोंसे पढ़ने आते हैं, उनकी आर्थिक स्थिति भी इतनी अच्छी नहीं होती कि वे गंभीर जलपानके द्वारा आने-जानेके श्रमकी पूर्ति कर सकें किन्तु गुरुकुल-विद्यालयोंमें यह प्रणाली तत्काल काममें लाई जा सकती है।

क्षीण होने लगता है और डण्डेकी मारसे उसकी मानसिक क्षीणता भी बढ़ती चलती है और यह सब अकांड कांड होता है परीक्षामें छात्रको उत्तीर्ण करानेके लिये! परीक्षा राक्षसी घरपर भी उसका पिंड नहीं छोड़ती।

अभिभावकोंकी मूर्खता

हमारे अभिभावक-गण भ' यह समझते हैं कि विद्यार्थीको खेलना-कूदना नहीं चाहिए, उसे दिनरात पुस्तकोंसे उलझे रहना चाहिए और इसीलिये उन प्रतापी अभिभावकोंने अपने बालकोंके लिये यह सूत्र बना छोड़ा है—

पढ़ोगे लिखोगे होगे नवाब।
खेलोगे कूदोगे होगे खराब॥

वे यह नहीं समझते हैं कि कोमल देह और कोमल मतिके बालकके लिये पाँच या छः घण्टे विद्यालयका अध्ययन ही अत्यन्त पर्याप्त है। उससे अधिक न तो उसे पढ़ना चाहिए और न पढ़नेकी आवश्यकता है। विद्यालयकी पढ़ाईके पश्चात् उसके लिये केवल एक ही कार्य रह जाता है—खेलना-कूदना, और वह जितना अधिक खेले-कूदेगा, जितना अधिक अपने अंग-प्रत्यंगको गतिशील करेगा उतना ही अधिक अगले दिनके पाठको रुचिपूर्वक, एकाग्रताके साथ ग्रहण करनेमें समर्थ हो सकेगा। क्योंकि इस खेल-कूदसे उसमें स्फूर्ति होगी, उसके मनमें उत्साह और उल्लास रहेगा और उसके मनकी थकावट मिट चुकी रहेगी। इसके अतिरिक्त उसे विश्राम भी चाहिए जिससे उसका शरीर स्वाभाविक रूपसे विकसित हो। अतः घरपर उसे सादे पौष्टिक भोजन, विश्राम तथा खेलसे शरीर बनाना चाहिए।

घरकी पढ़ाई

इसका यह अर्थ नहीं है कि बालक घरपर कुछ भी न पढ़े, किन्तु घरपर वे ही विषय, उसी प्रकारसे न लिखे-पढ़े जायँ जो, जिस प्रकारसे

विद्यालयमें पढ़े-लिखे जाते हैं। घर पढ़े जानेवाले विषयोंमें स्वतंत्रता होनी चाहिए, स्वाधीनता होनी चाहिए कि बालक अपनी प्रकृत्ति और रुचिके अनुसार विभिन्न विषयों और सुव्यसनोंमें समय लगा सके, अर्थात् घरका काम घरेलू अध्ययन होना चाहिए, जिसमें वे पुस्तकें पढ़ी जायँ जो स्कूलमें न पढ़ाई जाती हों और उन सब सद्वृत्तियोंकी लिये प्रवृत्त कराया जाय जो विद्यालयमें न होती हो। यदि किसी विद्यार्थीने मरहठोंका इतिहास पढ़ लिया है तो उसे घरपर शिवाजीका चरित्र पढ़ना चाहिए। इसी शिवाजीके युगके अध्ययनके साथ-साथ मुग़ल और मराठ-युगके सिक्के और चित्र एकत्र करनेकी प्रेरणा देनी चाहिए। यह स्मरण रखना चाहिए कि बालकको कुछ न कुछ इस प्रकारका कार्य घरपर करनेके लिये अवश्य देते रहना चाहिए, जिसे वह रुचिपूर्वक कर सकता हो, जो कक्षाकी पढ़ाईसे तनिक भी सम्बद्ध न हो, जिससे विद्यार्थीका ज्ञान भी बढ़े और जिसमें वह क्रियाशील भी हो सके। जबतक यह नहीं होगा तबतक विद्यार्थी घरके कामको बेगार समझते रहेंगे और उसे आधे मनसे और दण्डके भयसे ही करेंगे। इस विषयमें यह सिद्धान्त भी स्मरण रखना चाहिए कि सब अध्यापक एक साथ इस प्रकारका काम न दें। सब अध्यापकोंको बारी-बारीसे ऐसे कार्योंका आदेश देना चाहिए किन्तु उसके साथ दण्डका आतंक कभी नहीं रखना चाहिए। अध्यापकोंको यह नहीं भूलना चाहिए कि विद्यार्थी केवल पाठशालाका छात्र भर ही नहीं है, वह अपने परिवारका भी एक अंग है। घर-गृहस्थीमें भी उसे अपनी शक्ति और सामर्थ्यके अनुसार योग देना पड़ता है। बाजारसे सौदा लाना, घरके पशुओंकी सानी-पानी करना, घरके बीमारोंकी सेवा करना, सगे-सम्बन्धियोंके यहाँ आना-जाना आदि न जाने कितने घरके काम उसे करने पड़ते हैं। अतः अध्यापकोंको छात्रोंकी इन परिस्थितियोंका ध्यान भी रखना चाहिए। किन्तु जबतक

यह परीक्षा-प्रणाली नष्ट नहीं होती तबतक यह घरका काम भी बन्द होता नहीं दिखाई देता पर जब हस्त-कौशलको शिक्षामें इतना स्थान दिया जा रहा है तब इस घरके कामकी कोई आवश्यकता नहीं दिखाई देती। अतः जबतक यह घरका काम बालकोंके व्यक्तित्वके विकास और आत्म-शिक्षणका रूप नहीं धारण कर लेता तबतक यह निरर्थक और हानिकर है। उसे वर्त्तमान रूपमें चलाते रहना स्वतंत्र भारतके भावी नागरिकोंका विनाश करना है और यह देशद्रोहसे कम बड़ा अपराध नहीं है।

कामचोर बालक

इसमें कोई सन्देह नहीं कि कुछ बालक आलसी, कुछ कामचोर और कुछ मन्दबुद्धि होते हैं। ऐसे बालक, विद्यालयकी कक्षाप्रणालीके नियमित अध्ययनसे जो कुछ सीख-पढ़ पाते हैं उसकी न तो उद्धरणी करते हैं, न उसे दूसरी बार विचार कर उसे सिद्ध करते हैं। धनी घरोंके बालक अधिकांश आलसी और कामचोर हो जाते हैं। ऐसे बालकोंके अभिभावक प्रायः उसे घरपर पढ़ानेके लिये किसी अध्यापकको नियुक्त कर लेते हैं। इस प्रकारका गृहाध्यापन यद्यपि बालकोंको पराधीन और परमुखापेक्षी बना देता है और बालककी स्वयंचेष्टा-वृत्तिको कुंठित कर देता है किन्तु इससे इतना लाभ तो होता ही है कि बालक अपने विद्यालयके कामको तो नियमित रूपसे पूरा करता चलता है। इस गृहाध्यापनका यही उद्देश्य होना चाहिए कि विद्यालय-का काम नियमित रूपसे चलता रहे, बालकपर अनावश्यक भार न पड़े। यह न हो कि कुछ काम तो विद्यालयसे मिल जाय और कुछ घरके अध्यापकसे, क्योंकि उससे तो बालकका रहा-सहा स्वास्थ्य भी चौपट हो जायगा। अतः घरका काम देनेमें बड़ी सावधानी बरतनी चाहिए।

१०

परीक्षा

शिक्षाका अभिशाप

वर्त्तमान शिक्षा-पद्धतिका सबसे बड़ा अभिशाप परीक्षा है। प्रत्येक अध्यापक अपने छात्रोंको परीक्षाके लिये तैयार करता है, परीक्षाके लिये पढ़ाता है और परीक्षाके सुफलमें ही अपनी सफलता समझता है। प्रत्येक अभिभावक भी अपने बालकको परीक्षाका भव-पार करनेके लिये ही विद्यालयमें भेजता है। इसका परिणाम यह हुआ कि विद्या और शिक्षा दोनों गौण हो गए और परीक्षा प्रधान हो गई। चरित्र, आत्म-बल, ज्ञान आदि शिक्षाके मुख्य तत्त्व लुप्त हो गए। कुछ निश्चित बातोंको रटकर परीक्षाकी नदी पार कर लेना ही शेष रह गया। परीक्षाके लिये छात्र और अध्यापक इतने व्यस्त रहने लगे कि ज्ञान और शिक्षाके द्वारा, आदेश और उपदेशके द्वारा, आचार और उदाहरणके द्वारा बालकके भीतर समवस्थित देवत्वको जागरित करनेकी भावना लुप्त हो गई और उसे केवल किसी विशिष्ट परीक्षामें उत्तीर्ण कराना मात्र ही परम साध्य समझा जाने लगा। गुरु और शिष्यका दैवी संबंध विच्छिन्न हो गया। समाजकी सभी मर्यादाएँ विश्रृंखल हो गईं। समाजके प्रत्येक व्यक्तिकी मनोवृत्तियाँ दूषित, कलुषित और स्वार्थ-पूर्ण हो गईं। यही कारण है कि आज हमारे समाजमें सब एक दूसरेको नोचने-खसोटनेके लिये उद्यत हैं, एक दूसरेकी विपत्तिमें हाथ बँटाने वाला, सहारा देनेवाला कोई नहीं दिखाई देता।
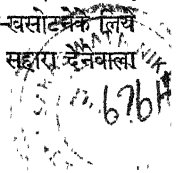
परीक्षामें अध्यापककी शक्तिका अपव्यय

यदि चार-पाँच वर्षोंमें एक परीक्षा होती तब भी उसका कुछ अर्थ समझा जा सकता था, किन्तु यहाँ तो परीक्षाओंकी इतनी भरमार है कि वार्षिक-परीक्षा, अर्द्ध वार्षिक परीक्षा, मासिक परीक्षा, साप्ताहिक परीक्षा—केवल परीक्षा ही परीक्षा चल रही है जिसका कोई अन्त नहीं है। छात्र तो उससे पीड़ित हैं ही किन्तु अध्यापक भी उसकी विभीषिकासे कम त्रस्त नहीं हैं। उत्तर-पुस्तिकाएँ देखते-देखते उनकी आँखें थक जाती हैं, एक ही प्रकारका उत्तर अनेक बार पढ़ते-पढ़ते माथा घूमने लगता है, लाल चिह्न लगाते-लगाते अध्यापक केवल दोष ढूँढ़नेकी कला सीखता चलता है। जिस अध्यापककी प्रतिभा छात्रोंको नया ज्ञान देनेकी कलाके आविष्कारमें लगनी चाहिए थी, जिसके प्रयत्न छात्रके सदाचरणको सचेष्ट रखनेके उपाय ढूँढ़नेमें लगने चाहिएँ थे, जिसकी शक्ति छात्रको योग्य नागरिक बनानेमें प्रयुक्त होनी चाहिए थी, उसकी प्रतिभा, बुद्धि और शक्ति नष्ट हो रही है केवल उत्तर-पुस्तिका जाँचनेमें, प्रश्नपत्र बनानेमें।

परीक्षाका उद्देश्य

परीक्षाका उद्देश्य यह है कि छात्रने जितना कुछ अध्ययन किया है उसके संचयकी जाँच कर ली जाय कि वह उसके मस्तिष्कमें पूरा समा गया है या नहीं। मनोवैज्ञानिकोंका कहना है कि ज्ञान प्राप्त करनेका उद्देश्य उसका उचित प्रयोग करना है। संस्कृतके एक सूक्तिकारने कहा है—

> शास्त्राण्यधीत्यापि भवन्ति मूर्खाः
> यस्तु क्रियावान् पुरुषः स विद्वान्।
> सुचिन्तितं चौषधमातुराणां
> न नाममात्रेण करोत्यरोगम्॥

[शास्त्र पढ़कर भी लोग मूर्ख रह जाते हैं। विद्वान् वही है जो शास्त्रका व्यवहार कर सके, उसे क्रिया-रूपमें परिणत कर सके। रोगीके लिये केवल किसी सुन्दर औषधका नाम बतानेसे काम नहीं चलता, उसका रोग तभी दूर हो सकता है जब उसे औषध दिया जाय।] शिक्षाके क्षेत्रमें भी ठीक यही बात है। संपूर्ण शिक्षाका उद्देश्य ही यह है कि छात्र जो कुछ पढ़े उसका व्यवहार करता चले। यदि प्रथम श्रेणीमें उत्तीर्ण होनेवाला छात्र अपने अर्जित ज्ञानका प्रयोग न कर पावे तो उसकी शिक्षा निरर्थक ही समझनी चाहिए। हम पढ़ानेके लिये परीक्षा नहीं लेते वरन् परीक्षाके लिये पढ़ाते हैं। चाहिए यह कि हम परीक्षाको अत्यंत गौण समझकर पढ़ानेकी ओर ध्यान दें और परीक्षा लें तो ऐसी कि जिससे—

(१) विद्यार्थीकी बुद्धि-गंभीरताका परिचय मिले।
(२) विद्यार्थीको अपने अर्जित ज्ञानकी थाह लगती चले।
(३) अर्जित ज्ञानका प्रयोग करनेमें उसे अपनी कुशलताका ज्ञान हो, अर्थात् उसने जो पढ़ा है वह गुना भी है या नहीं यह ज्ञान हो।
(४) आगेका पाठ-भार वहन करनेकी उसकी योग्यताका ज्ञान हो।
(५) अर्जित ज्ञानके आधारपर वह अपनी मनोवृत्ति तथा जीविकावृत्तिकी पहचान कर सके।
(६) उसे अपनी धारणा-शक्ति या स्मरण-शक्तिका ज्ञान हो।
(७) अपनी कार्य्य-क्षमताका परिचय मिले।

उद्देश्य-पूर्तिके साधन

उपर्युक्त उद्देश्योंकी पूर्तिके साधन तथा नवीन-परीक्षा-प्रणालियों-का स्वरूप बतानेसे पूर्व हम भारतीय प्राचीन परीक्षा-प्रणालीका भी परिचय दे-देना आवश्यक समझते हैं। आर्योंमें यह प्रथा थी और अब

भी है कि अन्नप्राशन—संस्कारके समय बालककी जीविका-परीक्षा ली जाती थी। उसके सामने पुस्तक, वस्त्र, शस्त्र, कला-कौशलकी सामग्री आदि रख दी जाती थी। वह जिस वस्तुको उठाता था, वही उसकी जीविका-वृत्ति समझी जाती थी और उसके अनुसार उसे शिक्षा दी जाती थी। इसके पश्चात् गुरुकुलमें कौशल-परीक्षा, शास्त्र-परीक्षा शक्ति-परीक्षा, बुद्धि-परीक्षा तथा मेधा-परीक्षा हुआ करती थी। एक बार राजा भोजने कालिदासकी बुद्धि-परीक्षा ली थी। उनके राज्यमें चार स्त्रियाँ आकर ठहरी हुई थीं और वे अपनी अपनी जाति पूछना चाहती थीं। कालिदास छिपकर वहाँ बैठे रहे। प्रातःकाल होने-पर चारों ने सूर्योदयका वर्णन अपने-अपने ढंगसे किया। उसे सुनकर ही कालिदासने बतला दिया कि वे क्रमशः ब्राह्मणी, क्षत्रिया, वैश्या तथा सुनारिन थीं। बुद्धि-परीक्षाके लिये सहस्रों कूट श्लोक, समस्याएँ और प्रहेलिकाएँ संस्कृत, प्राकृत और हिन्दी काव्योंमें भरी पड़ी हैं। अर्जित ज्ञान तथा उसके प्रयोगकी परीक्षाके लिये गुरुकुलोंमें शास्त्रार्थ होते थे या शंकाके रूपमें प्रश्न दे दिए जाते थे। शास्त्रार्थके द्वारा विद्यार्थी अपनी श्रेष्ठता और अपना ज्ञान सिद्ध करते थे। जो शास्त्रार्थमें हार जाता था वह पुनः अपने विषयको पढ़कर पूर्ण करता था। वहाँ तैंतीस प्रतिशत ज्ञान प्राप्त करनेसे काम नहीं चलता था। प्रत्येक विषयका ज्ञान पूर्ण होना आवश्यक था। धारणा-शक्तिके विषयमें भारतीयोंका सदासे यह मत रहा है कि मेधा या धारणा-शक्ति बढ़ाई जा सकती है। अब भी ऐसे लोग भारतमें हैं जो अष्टावधानी, दशावधानी या शतावधानी हैं। कई कार्य एक साथ होते रहें फिर भी वे सबको स्मरण रख सकते हैं। इसकी कुछ सरल साधनाएँ तथा प्रक्रियाएँ हैं जो अभ्यास करनेसे फलवती होती हैं। ऐसे लोगोंकी कथाएँ प्रसिद्ध हैं जो एक बार, दो बार, तीन बार या चार बार सुनकर एक पद्य सुना देते थे। वररुचिकी

एक कथा प्रसिद्ध है कि उसकी सात लड़कियाँ क्रमशः एकपाठी, द्विपाठी, और त्रिपाठी आदि थीं।

नवीन परीक्षा-पद्धतियाँ

पाश्चात्य देशवालोंने वर्त्तमान गन्दी परीक्षा-प्रणालीसे ऊबकर नई-नई प्रणालियाँ निकाली हैं जैसे बुद्धि-परीक्षा (इण्टैलिजैन्स टैस्ट), अर्जित ज्ञान-परीक्षा (ऐचीवमेण्ट टैस्ट), स्मृति-परीक्षा (मैमोरी टैस्ट), प्रयोग-परीक्षा (पर्फोर्मैन्स टैस्ट) आदि। अभी इन परीक्षा-प्रणालियोंकी भी परीक्षा हो रही है और भारतमें भी उनपर प्रयोग हो रहे हैं।

परीक्षापर नियन्त्रण

प्रत्येक आचर्यको यह समझना लेना चाहिए कि परीक्षा-प्रणाली विद्यालयके पाठन-कार्यके लिये है, परीक्षाके लिये पाठन-कार्य नहीं है। परीक्षा-प्रणाली जहाँ तक दासी है वहाँ तक तो ठीक है, किन्तु स्वामिनी बनते ही वह सर्वनाश कर देती है। अतः आचार्यका कर्तव्य होता है कि उसे वह दासी ही बनाकर रक्खे। इसके लिये उचित मार्ग यह है कि वह अध्यापकोंको प्रश्न-पत्र बनानेकी कलाका ज्ञान दे और बने हुए प्रश्न-पत्रोंको भली प्रकार जाँच ले। प्रश्नपत्र-की सबसे बड़ी परीक्षा यह है कि यदि छात्रोंको पाठ्य-पुस्तकें भी दे दी जायँ तब भी वे उसका उत्तर न दे पावें। प्रश्नोंका उत्तर पुस्तकमें होना ही नहीं चाहिए। प्रश्न ऐसे हों जिनपर विद्यार्थीको स्वयं चिन्तन करना पड़े। वह अपनी बुद्धिसे, विवेकसे, अनुभवसे, और कौशलसे उसका उत्तर दे, केवल स्मृतिके भरोसे नहीं। योरोपीय देशोंमें कभी-कभी छात्रोंको प्रश्न बता दिए जाते हैं और तत्संबंधी पुस्तकें भी दे दी जाती हैं और फिर कहा जाता है कि पुस्तकोंका अध्ययन करके सब प्रश्नोंपर भली प्रकार विचार करके लिखो। इस प्रकारके प्रयोगसे छात्रमें विचार करनेकी, परिणाम निकालनेकी,

निर्णय करनेकी और विवेचना करनेकी शक्ति बढ़ती है। इससे भाव-शक्ति और तर्क-शक्तिकी अभिवृद्धि होती है और छात्र भी पुस्तकोंका दास बननेके बदले उनका स्वामी बन जाता है। परीक्षाका काम ही है विचार और अन्वेषण-शक्तिकी अभिवृद्धि करना, केवल पुस्तकोंमें दी हुई थोड़ी-सी सूचनाओंका लेखा लेना नहीं।

परीक्षक

परीक्षकोंका यह भी काम नहीं है कि वे छात्रोंसे ऐसे प्रश्न पूछें जिनमें उन्हें भ्रान्त करनेकी, चकमा देनेकी, छलनेकी, निरुत्साहित करनेकी और ऊब उत्पन्न करनेकी प्रवृत्ति हो। साथ ही परीक्षकको अपना पांडित्य और अपनी विद्वत्ता भी प्रश्न-पत्रमें नहीं झोंक देनी चाहिए। परीक्षकको यह जाँचनेका प्रयत्न नहीं करना चाहिए कि विद्यार्थी क्या नहीं जानता है? उसे यह जाँचना चाहिए कि विद्यार्थी क्या जानता है और उसे किस सरलताके साथ समझा सकता है। इसलिये प्रश्न सरल हों, सुबोध हों, स्पष्ट हों, छोटे हों और ऐसे हों कि उनके द्वारा छात्र अपने मनकी और अनुभवकी सब बातें क्रमसे और कलात्मक रीतिसे व्यक्त कर सकें। नीचे हम एक कक्षाके लिये हिन्दीकी परीक्षाकी प्रश्नावली दे रहे हैं जिससे यह स्पष्ट हो जायगा कि चतुर अध्यापकको अपने छात्रोंकी परीक्षा किस प्रकार लेनी चाहिए।

१—बुद्धि परीक्षा

(क) विवेचनात्मिका-शक्तिकी परीक्षा

प्रश्न—एक कवि कहता है—नीच निचाई नहिं तजै, जौ पावै सतसंग।

दूसरा कवि कहता है—सठ सुधरहिं सतसंगति पाई।

इनमें कौन ठीक है। विवेचन करो।

(ख) साधारण बुद्धि-परीक्षा

प्रश्न—निम्नलिखित वक्तव्योंमेंसे जो बात ठीक हो उसपर गुणाका चिह्न लगा दो।

तुलसीदासजी बड़े भारी कवि थे क्योंकि—

(अ) उन्होंने अनेक काव्य लिखे हैं।

(इ) उन्होंने अनेक ग्रन्थोंका अध्ययन किया था।

(उ) वे संस्कृत भाषाके प्रकांड पंडित थे।

(ए) उन्होंने बहुत सत्संग किया था।

(ओ) उनमें कवि-प्रतिभा थी।

२—अर्जित ज्ञानकी परीक्षा

प्रश्न—आप अपनी पुस्तकमें बिजलीसे लाभ और हानि पढ़ चुके हो। लिखो कि एक साधारण राह-चलते आदमीको बिजलीसे क्या लाभ हो रहे हैं या हो सकते हैं।

३—अर्जित ज्ञानकी प्रयोग-कुशलताकी परीक्षा

प्रश्न—'आधी तज सारीको धावै, आधी रहै न सारी पावै।" इस उक्तिका उपयोग आप अपने जीवनमें किस प्रकार कर सकते हैं या कर चुके हैं।

४—आगेका पाठ-भार वहन करनेकी योग्यताकी परीक्षा

प्रश्न—निम्नलिखित उक्तियों तथा शब्दोंका प्रयोग करते हुए वसंतके स्वागतपर एक निबंध लिखो—

बौरा जाना, हाथ कंगनको आरसी क्या, फूल उठना, बालूसे तेल निकालना, नौ दो ग्यारह होना, पासे उलटे होना, बतीसी खिल उठना, आँखें या पलकें बिछाना, दिन-रात एक करना।

रसाल, विशाल, साल, मधुमास, परभृत, मञ्जरी, पञ्जर, पिञ्जर, द्विरेफ, अलस, उल्लास, विलसित, लसित, पराग, राग, विराग, अनुराग, परिचित, विरचित, प्रदेश, विदेश, निर्देश, उद्देश,

उद्देश्य, तरल, सरल, विरल, विधि, विधान, विधाता, कूल, दुकूल, अनुकूल, प्रतिकूल, सारंग, हिंडोल, देश, मलार, ध्वनि, प्रतिध्वनि, लय, ताल, स्वर, मन्द, सुगन्ध, अमन्द, द्वन्द्व, अभ्र, शुभ्र, मान, प्रमाण, अनुमान, विमान, अनुमान।

५—अर्जित ज्ञानके आधारपर मनोवृत्तिकी परीक्षा

प्रश्न—आपकी पुस्तकमें कहीं किसानका जीवन श्रेष्ठ कहा गया है तो कहीं कारीगरका, कहीं विद्वानका तो कहीं देश-सेवकका। तुम इनमेंसे कौन सा जीवन श्रेष्ठ समझते हो और क्यों? उदाहरण और कारण-सहित लिखकर समझाओ।

६—धारणा-शक्तिकी परीक्षा

प्रश्न—आपकी पुस्तकके कौन-कौनसे पाठोंमें परिश्रमकी कौन-कौन सी श्रेष्ठताएँ बतलाई गई हैं, उन्हें लिखो और उस संबंधमें आपने जो पद्य पढ़े हों उन्हें लिखकर उनकी व्याख्या करो।

७—अर्जित ज्ञानके आधारपर अपने विचार प्रकट करनेकी क्षमताकी परीक्षा

प्रश्न—आपने इटली और आयर्लैंडकी स्वतंत्रताका विवरण पढ़ा है। लिखिए कि भारतने जिस प्रकार स्वतंत्रता प्राप्त की है, वह कहाँतक ठीक है।

आजकी परीक्षाएँ

आचार्यको यह भली भाँति समझ लेना चाहिए कि आजकलकी शिक्षा-प्रणालीको दूषित बनानेका मूल कारण ये परीक्षाएँ हैं। आजकल हम ज्ञानके लिये शिक्षा नहीं देते, परीक्षा पास करानेके लिये शिक्षा देते हैं क्योंकि उसके आर्थिक और सामाजिक दोनों

महत्त्व है। नौकरीके लिये परीक्षा पास करनी चाहिए, समाजमें समादृत होनेके लिये परीक्षा पास करनी चाहिए, और तो और, बेचारी कन्याओंको भी अपनी वैवाहिक योग्यता लिये भी परीक्षा ही पास करनी चाहिए। किन्तु यदि हम परीक्षा-प्रणाली-पर दृष्टिपात करें, उसकी व्यवस्था और उसके दण्ड-विधानपर विचार करें तो उसके आगे राजकीय दण्डविधान (इंडियन पीनल कोड) भी लज्जासे सिर झुका लेगा।

वर्त्तमान परीक्षाकी विभीषिका

एक पिता यह जँचवाना चाहता है कि उसका पुत्र कौलेजमें प्रवेश होनेके योग्य है या नहीं। वह इसके लिये रजिस्ट्रारको शुल्क देता है। परीक्षा-भवनमें वह लड़का अनुत्तीर्ण होनेके भयसे, लोगोंमें लज्जित किए जानेके भयसे, आगे बढ़नेके प्रलोभनसे अपनी जेबमेंसे एक कागजका टुकड़ा निकालकर उसमेंसे देखकर लिख लेता है। परीक्षा-भवनमें पहरा देनेवाले सन्तरीकी दृष्टि पड़ती है। लड़का पकड़ा जाता है। पकड़नेवाले तथा उसके साथी कहते हैं कि यह तो चोरी—नहीं नहीं—हत्या करता पकड़ा गया (ही वाज़ कौट रेड-हैन्डेड्)। ऐसा ही अँगरेज़ीका मुहावरा है। उसका दंड सुनाया जाता है कि दो वर्षोंतक वह किसी परीक्षामें न बैठ सकेगा। पर दंड इतना ही नहीं है। उसका नाम, पिताके नामके साथ, निकाले हुए लड़कोंकी सूचीमें गज़टमें छापा जाता है जिसका फल सामाजिक लाञ्छन, व्यापक बदनामी और आत्मग्लानि होती है। वह लड़का, उसका पिता और उसके निकट-सम्बन्धी कहीं मुँह दिखलाने योग्य नहीं रह जाते। जीवनके दो वर्ष व्यर्थ नष्ट हो जाते हैं और पढ़ाईमें जो रुपया व्यय हुआ उसकी तो गणना ही नहीं। अब बालकके मनपर इस घटनाकी क्या प्रतिक्रिया होती है वह भी देखिए। वह उदास रहता है, किसीसे मिलता-जुलता नहीं, क्योंकि उसके दूसरे

साथी भी अब उससे कतराते हैं। सब लोग उसकी ओर उँगली उठाते हैं मानो उसने स्त्री-हत्या या ब्रह्महत्या की हो। उसका मन पढ़नेमें नहीं लगता। धीरे-धीरे वह रोगी हो जाता है। किसी प्रकार दो वर्षोंकी इस यातनाके पश्चात् उसने परीक्षा पास भी कर ली तो उसपर यह कलंक सदाके लिये लगा रह गया कि वह परीक्षासे निकाला गया था। उसे नौकरी नहीं मिलती। उसका सारा जीवन इस प्रकार नष्ट हो गया और यह जीवन नष्ट किया गया उसीके व्ययसे, उस शुल्कसे जो उसके पिताने दिया अपने पुत्रकी योग्यताकी परीक्षाके लिये। उसपर तुर्रा यह है कि उसे अपनी सफाई देनेके लिये अवसर नहीं दिया जाता। यह शिक्षा-सरकारका निराला मार्शल लौ है—न अपील, न वकील, न दलील।

चोर और छात्र

अब एक दूसरी घटना लीजिए। एक चोरने किसीके घरका ताला तोड़ा। चार-पाँच सौका धन चुराया, पकड़ा गया। चालीस पचासका माल उसके पाससे मिला। उसे छः महीनेकी सजा हो गई। चार सौ रुपया वह घर दे जाता है। जेलमें उसे ठीक समयपर खानेको मिलता है, कपड़ा मिलता है, डाक्टर देखने आता है, जेलके सैकड़ों बन्दियोंमें उसे मनबहलावके लिये साथी भी मिल जाते हैं। छः महीने सजा काटकर वह आता है, चायकी दूकान खोल लेता है। सब उसके यहाँ चाय पीते हैं, दंडित हो जानेसे उसकी बिक्रीमें अन्तर नहीं पड़ता। वह आनन्द करता है।

अपराध और दंड

दोनों घटनाओंकी तुलना करके देखिए कि अपराध किसका बड़ा है और दंड किसे अधिक मिला है। कोई भी इससे यह परिणाम निकाल सकता है कि परीक्षार्थी और उसके अभिभावकको बड़ा कड़ा दंड दिया गया है। पर इसका कारण कौन है ? इसके

कारण हैं वे अध्यापक, जो शानमें आकर परीक्षाभवनमें पुलिसके दारोगा बन जाते हैं और जैसे चूहेकी ताकमें बिल्ली रहती है वैसे ही ये लोग भी किसीको पकड़नेकी ताकमें रहते हैं। ऐसी दूषित मनोवृत्ति रखनेवालोंको पुलिसमें भर्ती हो जाना चाहिए, शिक्षाके क्षेत्रमें इनका कोई काम नहीं है।

इसका अर्थ क्या ?

तो क्या इसका यह अर्थ है कि परीक्षामें हम छात्रोंको परस्पर बातें करने दें, नकल करने दें। हम कहेंगे—कभी नहीं। तब क्या करना चाहिए। पहले ऐसे छात्रोंको सावधान कर दो। फिर उनके माता-पिताके गौरवका स्मरण दिलाओ—तुम ऐसे माता-पिताके पुत्र होकर ऐसा काम करते हो। बात करनेवाले दोनों छात्रोंके स्थान बदल दो। यदि किसी कागज या पुस्तकसे नकल कर रहा हो तो वह कागज उससे धीरेसे लेकर फाड़कर फेंक दो या पुस्तक अपने पास रख लो। यही पर्याप्त दंड है, पर्याप्त चेतावनी है और इस मानसिक दंडके साथ-साथ अध्यापकके प्रति छात्रकी श्रद्धा भी बनी रहती है। मैं अपने अनुभवकी एक घटना बताता हूँ। एक बार मैं एक परीक्षामें चौकीदार (गार्ड) था। मैंने देखा कि एक मुसलमान छात्र कागजके पन्नेसे कुछ नकल करनेका प्रयत्न कर रहा है। मैं धीरेसे उसके पास गया; मैंने उससे कागज माँग लिया, उसे फाड़कर फेंक दिया और उससे कह दिया कि पर्चा करो। मेरे व्यवहारका उसपर इतना प्रभाव पड़ा कि उसने फिर कभी नकल नहीं की और अब भी जब कभी वह मिलता है तो बड़ी कृतज्ञताके साथ मिलता है।

छात्रोंके साथ व्यवहार

यह स्मरण रखना चाहिए कि छात्रोंके साथ वह बर्त्ताव कभी नहीं करना चाहिए जो पुलिसके सिपाही अपराधियोंके साथ करते

हैं। हम लोग अध्यापक हैं, गुरु हैं। छात्रसे या अपराधीसे हमारा द्वेष नहीं है, अपराधसे द्वेष है। अपराधका कारण या मूल दूर करना ही हमारा अभीष्ट है। हमें ऐसा उपाय करना चाहिए कि छात्र अपराध ही न करें। जैसे यह नियम है कि जिस चौकीदार-की रखवालीमें चोरी हो वह निकाल दिया जाय, यदि वही नियम इन परीक्षाके चौकीदारों (इनविजिलेटर्स) के लिये भी लागू हो जाय तो देखिए कल ही नकल करना बन्द हो जाय। यह तो चौकीदारोंका ही अपराध है कि उनके रहते चोर घरमें प्रवेश पा ले।

छात्रोंका स्वभाव

जैसा हम कह आए हैं, छात्र या बालक स्वतः स्वभावतः अपराधी नहीं होते। उत्तीर्ण होनेकी लालसा, अनुत्तीर्ण होनेसे समाजमें बदनामीका डर, समयकी बचत आदि कितने ही प्रलोभनों-से प्रेरित होकर छात्र नकल करते हैं। जो अधिकांश लड़के नकल नहीं करते वे स्वतः ईमानदार होनेके कारण नहीं, वरन पकड़े जानेके भयसे नकल नहीं करते। बालकोंकी बात तो जाने दीजिए। वे तो बच्चे हैं, अच्छे-बुरेका उन्हें कम ज्ञान होता है, पर हम-आपमेंसे ऐसे कितने माईके लाल हैं जो छाती ठोंककर यह कह सकेंगे कि जीवनमें हम किसी प्रलोभनमें नहीं पड़े। हमें यह उक्ति सदा स्मरण रखनी चाहिए—'वैद्यजी! पहले अपनी चिकित्सा करो' (फिजिशियन, क्योर दाइसेल्फ)। जो आचार्य छात्रोंमें सदा दोष खोजा करते हैं, वे घृणा तो मोल लेते ही हैं, साथ ही कभी-कभी उनकी पूजा भी हो जाती है और ऐसी पूजा होती है कि वे पानी नहीं माँग सकते। अतः इन परीक्षाके अवसरोंपर आचार्यको यही भावना रखनी चाहिए कि हम अपराधकी और छात्रको अग्रसर ही न होने दें और साथ-साथ उसका सुधार इस प्रकार करें कि वह आजीवन हमारा ऋणी बना रहे, उसका जीवन नष्ट न होने पावे।

अङ्क-दान

इसके अतिरिक्त यह भी स्मरणीय है कि परीक्षामें अङ्क देनेमें कंजूसी नहीं होनी चाहिए। बहुतसे लोग अंकोंको दाँतोंसे पकड़ते हैं मानो कोई अगाध निधि उनके हाथोंसे छीनी जा रही हो। जो जितने अंकोंके योग्य हो उसे उतने अंक अवश्य दो, भले ही आपको सौमें सौ ही देने पड़े। बहुतसे आचार्य और अध्यापक किसी छात्रसे या उसके अभिभावकसे अप्रसन्न होनेके कारण या झगड़ा होनेके कारण परीक्षामें बदला निकालते और अनुत्तीर्ण कर देते हैं। ऐसे निकृष्ट लोग शिक्षक-समाजके कलङ्क हैं। जो अध्यापक किसी पुराने झगड़ेको परीक्षामें कसर निकालनेके लिये रख छोड़ता है उससे अधिक पापी और कौन हो सकता है? ऐसे अध्यापकोंपर आचार्यको कड़ी दृष्टि रखनी चाहिए और उन्हें यथाशीघ्र नारियल-सुपारी देकर बिदा करना चाहिए।

दोष किसका?

यदि छात्र अनुत्तीर्ण होते या नकल करते हैं तो इसका दोष आचार्य और अध्यापकोंपर ही है। इसका अर्थ यही निकलता है कि अध्यापकोंने न तो ठीकसे पढ़ाया और न उनमें आत्मबल भरा। यदि प्रत्येक अध्यापक इस भावनाको दृढ़ पकड़ ले तो यह व्यापक असफलता कम हो जाय और आचार्य तथा अध्यापककी मर्यादा भी बढ़े। आचार्यको सदा यह प्रयत्न करना चाहिए कि परीक्षाका जो हौवा छात्रोंके हृदयमें बैठा हुआ है उसे दूर कर दें। आकस्मिक परीक्षाओंके प्रचलनसे यह विभीषिका दूर हो सकती है। बहुतसे शिक्षाशास्त्री तो अंकोंद्वारा परीक्षा ही लेनेके विरुद्ध हैं। वे कहते हैं कि कोई भी परीक्षक तौलकर अंक नहीं दे सकता। फिर अंक देनेसे छात्रोंमें असन्तोष भी फैलता है और अकारण ही परीक्षकपर पक्षपाती होनेका दोष लगा दिया जाता है। अतः

१०

पुस्तकालयकी व्यवस्था

पुस्तकालयका उद्देश्य

पुस्तकालय मनुष्यके ज्ञान-भाण्डारको पुष्ट और समृद्ध करनेके सर्वोत्कृष्ट साधन हैं। वे हमारी मानसिक तृप्ति करनेके साथ हमारा बौद्धिक भोजन भी जुटाते हैं। पुस्तकालयोंका उपयोग सदासे बढ़ी-चढ़ी सभ्यताका परिचायक माना गया है। पुस्तक एक ऐसा साधन है जिसके द्वारा हम घर बैठे ही सारे संसारकी सैर कर लेते हैं; सारे संसारके दर्शन, विज्ञान और साहित्यसे परिचित होते हैं; नई और पुरानी विभिन्न जातियोंकी विचार-धारामें डुबकियाँ लगाकर अनमोल मोती बटोरते हैं; हजारों वर्ष पहलेके महापुरुषोंकी भावनाओंका स्पष्ट परिचय प्राप्त करते हैं और इस प्रकार अपने जीवनको सरल और सुसंस्कृत बनाते हुए मस्तिष्कको पुष्ट, मनको प्रसन्न और बुद्धिको विकसित करते हैं।

विद्यालयका आत्मा

यदि अध्यापकोंको हम पाठशालाका मस्तिष्क मानें तो पुस्तकालयको पाठशालाका आत्मा मानना पड़ेगा, क्योंकि अध्यापकोंकी कार्य-कुशलता बहुत कुछ पुस्तकालयकी उपयोगितापर ही निर्भर है। जो वास्तविक अध्यापक होते हैं वे सदा पुस्तकालयोंका उपयोग करते हुए अपने ज्ञान-क्षितिजको उदार करते रहते हैं, जिससे उनके विद्यार्थी भी केवल पाठ्य पुस्तकके कूप-मंडूक न रहकर मुक्त

आकाशमें विचरण करनेवाले पक्षीके समान विस्तृत वसुधाकी थोड़ी बहुत जानकारी रखनेवाले हो जाते हैं।

पुस्तकोंका चुनाव

जिस प्रकार पाठशालाका आत्मा पुस्तकालय है उसी प्रकार पुस्तकालयका प्राण पुस्तकोंका समुचित चुनाव है। पुस्तकालयमें संसारका कूड़ा-कचरा बटोरकर रख देनेसे कोई लाभ नहीं होता। ऐसे पुस्तकालयोंसे लाभके स्थानपर हानि होनेकी ही अधिक सम्भावना रहती है। शिक्षण-संस्थाओंके पुस्तकालयोंमें जो पुस्तकें रक्खी जायँ उनमें तीन बातोंपर ध्यान रखना बहुत आवश्यक है—

(१) पाठशालाके पुस्तकालयमें संगृहीत पुस्तकें रुचिकर तो हों पर कुरुचिपूर्ण नहीं अर्थात् उन पुस्तकोंके पठन-पाठनमें मन तो रमे पर उनसे कोई चरित्र-सम्बन्धी अवांछनीय प्रभाव न पड़ने पावे।

(२) पाठशालामें जो पुस्तकें रक्खी जायँ वे विचारशीलताको प्रोत्साहन देनेवाली अवश्य हों पर सर्वथा दार्शनिक न हो। उन पुस्तकोंके पठन-पाठनसे विद्यार्थीमें स्वयं सोचनेकी शक्ति तो बढ़े पर ऐसा न हो कि पुस्तक समझनेमें ही उसकी सारी शक्ति शिथिल हो जाय।

(३) वे ज्ञान बढ़ानेवाली होनेके साथ-साथ सरल भी हों। उनमें ज्ञानभाण्डार बढ़ानेवाले विषयोंका वर्णन सर्वग्राही तथा लोक-बोधक होना चाहिए जिनसे केवल अध्यापक ही नहीं वरन् छात्र भी उचित लाभ उठा सकें।

पुस्तकालयके विभाग

पुस्तकोंकी प्रकृतिके अनुसार स्कूलके पुस्तकालयके पाँच विभाग हो सकते हैं। पहलेमें उपदेशात्मक पुस्तकें हों जैसे नीतिके संग्रह, हितोपदेश, भगवद्गीता आदि। दूसरे विभागमें वे पुस्तकें

हों जिनका उपयोग किसी विषयकी जानकारीके लिये ही किया जाता है और जिन्हें विमर्श-ग्रन्थ (रेफ़रेन्स बुक्स) कहते हैं। चित्र-संग्रह, कोष, विश्वकोष और मानचित्रावली (ऐटलस) जैसी पुस्तकोंकी गणना भी इसी विभागमें की जा सकती है। तीसरा विभाग पाठ्यग्रन्थोंका हो। इसमें वे पुस्तकें रक्खी जायँ जो कक्षा विशेषके लिये निर्दिष्ट हो चुकी हैं। इन पुस्तकोंका उपयोग तभीतक रहता है जबतक उनका नाम पाठ्य-पुस्तकों की सूचीमें चढ़ा रहता है। चौथा विभाग विशेष विज्ञान-सम्बन्धी पुस्तकोंका है। इस विभागमें नवीन वैज्ञानिक विषयोंपर खोजके साथ लिखी हुई पुस्तकें रक्खी जायँ। बिजली, बेतार आदि विषयोंपर लिखी हुई सभी पुस्तकें इस विभागमें रक्खी जा सकती हैं। पाँचवें विभागमें मनोरंजक पोथियाँ हों। काव्य, नाटक, कहानी, यात्रा-वृत्तान्त और उपन्यास सभीकी खपत इस विभागमें हो सकती है। पुस्तकोंका संग्रह करते समय सदा स्मरण रखना चाहिए कि ऐसी कोई पुस्तक न छूट जाय जिसके न होनेसे स्कूलीय पाठ्य-विषयोंके अंशके पढ़ने-पढ़ानेमें बाधा पड़े।

पुस्तकोंका संग्रह

इन सब पुस्तकोंकी प्राप्तिके दो ही मार्ग हैं। पहला मार्ग तो यह है कि पुस्तकें मोल ली जायँ और दूसरा यह कि वे उपहारमें मिलें। पुस्तकें चाहे इन दोनोंमेंसे किसी ढंगसे भी मिलें परन्तु उन्हें पूर्वोक्त कसौटीपर कसनेके बाद ही पुस्तकालयमें स्थान देना चाहिए। मोल ली हुई पुस्तकोंके सम्बन्धमें तो कसौटीका प्रयोग होना स्वाभाविक है परन्तु उपहारमें मिली हुई पुस्तकोंको परखनेका प्रयत्न प्रायः लोग नहीं करते। दानकी बछियाके दाँत कौन गिनता है! पर ऐसा होना ठीक नहीं। विद्यार्थियोंके लिये जो हानिकर सिद्ध होती हों ऐसी पुस्तकोंका

बहिष्कार करना नितान्त श्रेयस्कर है, भले ही वे बहुमूल्य हों और बिना मूल्य ही मिली हों। पाठशालाओंमें पुस्तकालयके दो विभाग करने चाहिएँ। पहला विभाग सर्वसाधारणके लिये हो अर्थात् स्कूल भरके लिये एक बड़ा पुस्तकालय हो जिसका उपयोग अध्यापक तथा छात्र समान रूपसे करें। दूसरा छोटा पुस्तकालय प्रत्येक कक्षामें हो जिसका उपयोग केवल उसी कक्षाके विद्यार्थी करें।

कक्षा-पुस्तकालय

कक्षाओंसे सम्बद्ध पुस्तकालयमें जो पुस्तकें रक्खी जायँ वे कक्षाके विद्यार्थियोंके अवस्थानुरूप हों। अध्यापकका यह कर्त्तव्य होना चाहिए कि वह विद्यार्थियोंकी मानसिक अवस्थाके अनुसार पढ़नेके लिये पुस्तकें चुननेमें सहायता दे। वह इस बातका प्रयत्न करे कि विद्यार्थियोंमें अनिवार्यतः पुस्तक पढ़नेकी रुचि उत्पन्न हो पर इसके लिये किसी प्रकारकी कड़ाई कदापि न की जाय। अध्यापकको चाहिए कि वह मनोवैज्ञानिक प्रेरणा-द्वारा विद्यार्थियोंमें पुस्तक पढ़नेकी रुचि उत्पन्न करे। उदाहरणार्थ पढ़ाते-पढ़ाते अध्यापक कह बैठे कि अमुक विषयपर अमुक पुस्तकमें बड़ी अच्छी-अच्छी बातें लिखी हैं; अमुक पुस्तक बड़ी सुन्दर और मनोरंजक है। इसीके साथ-साथ विद्यार्थियोंसे उस पुस्तककी संक्षिप्त चर्चा भी कर दे। ऐसा होनेसे विद्यार्थी स्वभावतया उक्त पुस्तक पढ़नेके लिए आकृष्ट होंगे। परन्तु अध्यापकका कार्य इतनेसे ही समाप्त नहीं होता। उसे बीचमें इसकी परीक्षा भी करते रहना चाहिए कि विद्यार्थियोंने उसकी बताई पोथियाँ पढ़ी हैं या नहीं। इस परीक्षामें अध्यापकको यह सावधानी रखनी चाहिए कि विद्यार्थी यह कभी न भाँपने पावें कि हमारी परीक्षा हो रही है। यह परीक्षा इस प्रकार ली जा सकती है कि पढ़ाते समय

अध्यापक एकाएक कह बैठे कि अमुक बात अमुक पुस्तकमें लिखी हुई है, तुमने तो उसे पढ़ा है, कहो तो क्या है। इस प्रकार बीच-बीचमें पूछते रहनेसे अध्यापक-द्वारा निर्दिष्ट पुस्तकको विद्यार्थी अवश्य पढ़ेगा क्योंकि उसके मनमें यह बात तो बैठ ही जायगी कि न जाने कब अध्यापक महाशय अपनी बतलाई हुई पुस्तकके विषयमें कुछ पूछ बैठें और हम समुचित उत्तर न देनेके कारण कक्षामें लज्जित हों।

द्रुतपठनकी शिक्षण-व्यवस्था

इस प्रसंगमें हमें द्रुतपठनकी शिक्षण-व्यवस्थापर भी विचार कर लेना उचित होगा। हमारे पाठ्यक्रममें पाठ्यग्रन्थोंके साथ-साथ कुछ ऐसी पुस्तकोंका विधान किया जाता है जिन्हें सहायक पुस्तक (रैपिड रीडर्स) कहते हैं। ऐसी पुस्तकोंमें प्रायः कथा-कहानियाँ तथा महापुरुषोंके जीवन-चरित आदि होते हैं। इन्हें पाठ्य-क्रममें रखनेका उद्देश्य यह होता है कि विद्यार्थी किसी भी पुस्तकको अपने आप शीघ्र पढ़कर उसका भाव समझ सके। प्रायः ऐसी पुस्तकें भी उसी प्रकारसे पढ़ाई जाती हैं जैसे पाठ्य-पुस्तकें। उनके पढ़ानेके समय भी प्रत्येक कठिन शब्दका अर्थ बताया जाता है और एक-एक वाक्यका भावार्थ बतलाया जाता है। यह क्रम नितान्त भ्रमपूर्ण है तथा द्रुतपाठनके उद्देश्यसे भी दूर है। पाठ्यक्रममें द्रुतपठनकी व्यवस्था करनेका उद्देश्य यह है कि विद्यार्थी किसी भी लिखित या मुद्रित सामग्रीको शीघ्रतासे पढ़कर उसका अर्थ या भाव समझ सकें। ऐसी पुस्तकोंको कक्षामें पढ़ानेका विधान यह है कि एक-एक अनुच्छेद एक-एक विद्यार्थीसे स्वरसे पढ़वाया जाय और एक-एक अनुच्छेदका भावार्थ प्रश्नों-द्वारा कहला लिया जाय। दूसरा विधान यह है कि कक्षामें एक पूरा पाठ मौन पढ़नेके लि दे दिया जाय और अध्यापक यह देखता रहे

कि सब विद्यार्थी पढ़ रहे हैं या नहीं। जब वे पढ़ चुकें तो उनसे पाठका भाव प्रश्नों-द्वारा कहला लिया जाय।

मौन वाचन

मौन वाचनका वास्तविक उपयोग ऐसी पुस्तकोंके वाचनसे ही कराया जा सकता है क्योंकि कथा-कहानी अथवा जीवन-चरित स्वभावतः रुचिकर होते हैं। विद्यार्थी यह चाहता है कि वह घटनाओंके चढ़ाव-उतरावको शीघ्र पार कर ले। एक-आध कठिन शब्द या वाक्य उसके अर्थबोधके मार्गमें बाधा नहीं उत्पन्न करते। उनमेंसे कुछ तो प्रसंगवश स्पष्ट हो जाते हैं और जो बचे भी रहते हैं वे कथाबोधमें रुकावट नहीं डाल सकते। यहाँ शब्द-भांडार बढ़ाना नहीं वरन् अर्थ ग्रहण करना ही उद्देश्य होता है। यहाँ इस प्रकारकी पुस्तकें या पाठ पढ़ाते समय मौन-पठनका विधान उचित, सङ्गत तथा लाभकर हो सकता है क्योंकि इनसे धीमी चालवालोंको सहारा मिल जाता है और तीव्र गतिसे पढ़नेवालोंको सुन्दर सुयोग। फिर नागरी भाषा तो मातृभाषा है और इतनी शुद्ध तथा सरल है कि इसमें उच्चारण-संबंधी भूलें अधिक नहीं हो सकतीं। द्रुतपठनके विषयमें इतना ही कहकर बस करते हैं कि हरबार्टीय प्रणालीसे व्याख्या करके द्रुत-पाठ्य-पुस्तकें नहीं पढ़ानी चाहिएँ। उनके लिये उपर्युक्त विधान ही उपादेय है।

पुस्तकालयका प्रबन्ध

मुख्य पुस्तकालयके प्रबन्धका भार किसी ऐसे अध्यापकको सौंपना चाहिए जिसे पुस्तकोंसे स्वाभाविक प्रेम हो, जिसका ज्ञान चतुर्मुख हो, जो सभी विषयोंकी थोड़ी-बहुत जानकारी रखता हो, जिसके पास किसी विशेष विषयके अध्ययनकी इच्छा लेकर

यदि कोई आवे तो वह तुरन्त उसके काममें आनेवाली दो-चार-छः पुस्तकोंके नाम बतला सके तथा उचित परामर्श दे सके।

कक्षासे सम्बन्ध रखनेवाले पुस्तकालयकी देखरेख उस कक्षाके अध्यापकके हाथमें रहनी चाहिए पर पुस्तकके लेन-देनका सारा काम विद्यार्थियोंके द्वारा ही होना उचित है। ऐसा होनेसे विद्यार्थियोंमें स्वावलम्बनकी भावना जड़ पकड़ेगी। पुस्तकके लेन-देनका सारा प्रबन्ध विद्यार्थियोंके हाथोंमें रहनेसे उनकी रुचि भी धीरे-धीरे पुस्तकोंके पठन-पाठनकी ओर बढ़ेगी।

पत्र-पत्रिकाएँ

स्कूलीय पुस्तकालयकी व्यवस्थामें हस्तलिखित पत्रिकाओं तथा शिक्षा-सम्बन्धी पत्र-पत्रिकाओंका भी स्पष्ट निर्देश हो जाना उचित है। हस्तलिखित पत्रिकाओंके स्थानीय संपादकोंकी यह प्रवृत्ति होती है कि उन्हें जो कुछ भी, जिस किसीसे भी लिखा हुआ मिल जाता है उसे वे उस पत्रिकामें दे डालते हैं। स्कूलकी हस्तलिखित पत्रिकाके संपादकको दूसरे संपादकोंकी अपेक्षा अधिक सावधान रहना चाहिए। विषयोंका चुनाव इस प्रकारसे करना चाहिए कि उनमें अनावश्यक, अनर्गल तथा कुरुचिपूर्ण सामग्री किसी प्रकार भी प्रविष्ट न हो। लेख छोटे और मनोरञ्जक हों। उनमें जो ज्ञान देनेका प्रयास किया गया हो वह गुरु और उपदेष्टाके रूपसे न हो वरन् कथा कहनेवालोंके ढंगसे हो। प्रायः इन पत्रिकाओंमें प्रत्येक लेख अपनी-अपनी अलग भाषा और शैलीका द्योतक होता है। शैली भले ही अलग-अलग हो किन्तु भाषाका एक रूप अवश्य होना चाहिए। यह संपादकका काम है कि वह आए हुए सब लेखोंकी भाषाको एकरूप कर दे और जहाँ शैलीमें दोष आ गया हो उसे भी सुधार दे। सब

लेख सुन्दर लिपिमें लिखे जाने चाहिएँ और इन पत्रिकाओंमें यथासंभव सब लेख विद्यार्थियोंके ही हों।

भ्रमका निराकरण

भाषाके अध्यापकको यह नहीं समझ लेना चाहिए कि वही पत्रिकाका एकमात्र अधिपति है और केवल वही पत्रिकाके स्वरूपका विधाता है। उसे चित्रकला—शिक्षकका भी सहयोग प्राप्त करना चाहिए। उससे पत्रिकाका सौन्दर्य्य बढ़ानेमें सहायता मिल सकती है। इन पत्रिकाओंमें, लेखोंके बीचमें विषयसे सम्बन्ध रखनेवाले चित्र बनवाए जा सकते हैं जिससे कि पाठ्य विषय आकर्षक तथा रुचिकर बन जायँ। फूल-पत्तियों तथा बेल-बूटोंसे प्रत्येक लेखका शीर्षक मनोहर बनाया जा सकता है। इन पत्रिकाओंमें छोटी-छोटी कविताएँ, कहानियाँ, संवाद, व्यंग्य-चित्र आदि सब सामग्री रह सकती है। अन्तमें प्रत्येक मासकी पत्रिका जिल्द बँधवा कर संग्रह कर लेनी चाहिए।

इन पत्रिकाओंसे सबसे बड़ा लाभ यह है कि विद्यार्थियोंकी लिखनेमें रुचि बढ़ती है और उनकी भाषा तथा शैलीका परिमार्जन हो जाता है। अपने साथीकी किसी कृतिको देखकर अनायास ही उनकी स्वस्थ स्पर्द्धाकी भावना जग उठती है और रचनात्मिका वृत्ति सक्रिय हो जाती है।

हस्तलिखित पत्रिकाके अतिरिक्त जो बाहरसे छपी हुई पत्र-पत्रिकाएँ स्कूलमें मँगाई जायँ उनमें भी इस बातका ध्यान रक्खा जाय कि उनके विषय सुरुचिपूर्ण, चरित्रसुधारक, उदात्त-वृत्तिको उकसानेवाले तथा रुचिकर हों और उनकी भाषा विद्यार्थियोंकी मानसिक अवस्थाके अनुकूल हो। उनमें गन्दे तथा झूठे विज्ञापन न हों, यदि हों तो वे फाड़कर अलग कर दिए जायँ।

संग्रहालय

प्रायः स्कूलोंमें छोटे-मोटे संग्रहालय तो होते ही हैं किन्तु इनकी अधिकांश सामग्री व्यर्थ सी होती है। भाषाके अध्यापक तथा विद्यार्थियोंके लिये संग्रहालयमें कुछ विशेष वस्तुएँ अथवा उनके चित्र होने चाहिएँ। हम लोग चातक, कोकिल, सारिका तथा हंस आदि पक्षियोंका वर्णन अपनी पुस्तकोंमें पाते हैं और पढ़ाते समय 'एक प्रकारका पक्षी' कहकर काम चला लेते हैं। यहाँतक कि अध्यापक भी इन पक्षियोंके रूप-रंगसे परिचित नहीं होते। इसी प्रकार वीणा, मृदंग, भेरी, अस्त्र-शस्त्र, फूलपत्ती लता-वृक्ष, फल-फली आदिसे भी वे अपरिचित होते हैं। यदि ये वस्तुएँ, इनके चित्र अथवा इनकी प्रतिमूर्तियाँ संग्रहालयमें हों तो पढ़ानेमें सुविधा हो और इन पदार्थोंका उचित ज्ञान हो।

११

विनय और शील

हिन्दीमें अँगरेज़ीके डिसिप्लिन शब्दकी बड़ी छीछालेदर की गई है। इंगलिस्तानको सभ्यताका केन्द्र और अँगरेज़ीको सब भाषाओंका स्रोत समझनेवाले लोगोंने तो यहाँतक कह डाला है कि डिसिप्लिन शब्दका उचित पर्याय हिन्दीमें तो क्या संस्कृतमें भी नहीं है। जो इससे असहमत रहे उन्होंने भी उचित शब्द खोजनेका कष्ट न उठाकर मनमाने शब्द गढ़े। फलस्वरूप नियन्त्रण, नियमन, संयम तथा अनुशासन आदि अनेक शब्द इस अर्थमें चलाए गए। इनमें नियन्त्रण शब्दका अर्थ तो है बलपूर्वक वशमें रखना, नियमनका अर्थ है बँधे हुए नियमोंके अनुसार गतिको परिमित कर देना, संयमका अर्थ है अपनेको वशमें रखना और अनुशासनका अर्थ है आज्ञा। न जाने कैसे अनुशासन शब्दका प्रयोग इस अर्थमें होने लगा। प्रायः कांग्रेसी पत्रों और कांग्रेसी मंचोंसे इस शब्दका बहुत प्रचार किया गया। जिसने संस्कृत पढ़ी है उसकी बात तो जाने दीजिए, जिसने रामायणमें यह चौपाई पढ़ी है—

जौ राउर अनुसासन पाऊँ। कन्दुक इव ब्रह्माण्ड उठाऊँ॥

—वह भी यह जानता है कि अनुशासनका अर्थ होता है आज्ञा। जिन्हें संस्कृतका अच्छा ज्ञान है और विशेषतः प्राचीन शिक्षापद्धतिसे परिचय है, वे जानते हैं कि अँगरेज़ीके डिसिप्लिन शब्दका शुद्ध संस्कृत पर्याय है विनय। जब हम कहते हैं—

विद्या ददाति विनयम्।

—उसका अर्थ ही यह होता है कि विद्यासे हमें ऐसा ज्ञान मिलता है जिससे हम अपने जीवन और चरित्रको संयत (डिसिप्लिण्ड) बना सकें। योरोपमें यदि किसी व्यक्तिके विषयमें कहते हैं कि वह बड़ा विनयी (वेल् डिसिप्लिन्ड) है तो उसका तात्पर्य यह समझा जाता है जिस व्यक्तिके विषयमें यह विशेषण दिया जाता है वह रहन-सहनमें स्वच्छ, आचारमें नियिमित, व्यवहारमें शिष्ट, अपने व्यवसाय-सम्बन्धी नियमों तथा अपने बड़ोंकी आज्ञा पालन करनेमें दृढ़ तथा समाजमें उठने-बैठने, बोलने-चालनेमें कुशल है। हमारे यहाँ विनय शब्द इस अर्थके अतरिक्त यह अर्थ भी देता है कि विनयी व्यक्ति सच्चरित्र भी होता है अर्थात् हमारे यहाँ विनय शब्द केवल बाह्य आचरणकी साधनाका ही नहीं अपितु मन, बुद्धि और आत्माकी शुद्धताका भी द्योतक है।

विनयकी समस्या

विनयकी समस्या नये अध्यापकोंके लिये ही नहीं अपितु सिद्धहस्त अध्यापकोंके लिये भी लोहेका चना बनी हुई है। प्रतिदिन यह समस्या प्रत्येक अध्यापकके सम्मुख उपस्थित होती है और अनुभवी लोग अपनी शक्ति, योग्यता और बुद्धिके अनुसार उसका समाधान करते चलते हैं। ट्रेनिङ्ग स्कूलों और कालेजोंमें नित्य यही कहा जाता है कि कक्षामें विनय रक्खो। सरकारी निरीक्षगण (इन्सपेक्टर) भी यही चाहते हैं कि कक्षामें विनय रहे। इसलिये सभी अध्यापक लगनके साथ विनयकी साधनामें लगे दिखाई दे रहे हैं।

गुरुकुलमें विनयकी व्यवस्था

हमारे देशमें प्राचीन कालमें यह समस्या थी ही नहीं। उसका कारण यह था कि उस समय पढ़ानेवाले और पढ़नेवालेके बीच

अध्यापक और विद्यार्थीका नहीं अपितु गुरु और शिष्यका सम्बन्ध था। प्रत्येक छात्र गुरुको देवता समझता था जिसकी कृपा पानेके लिये वह तरसता था, तपस्या करता था, सेवा करता था और प्रतिक्षण इस बातके लिये लालायित रहता था कि गुरुजी मुझे सेवा करनेका अवसर दें। उसकी यह धारणा थी कि विद्या तो गुरुकी प्रसन्नतासे मिलती है, पढ़नेसे नहीं। इसलिये छात्रगण तनसे, मनसे और धनसे भी गुरुको प्रसन्न करनेकी चिन्तामें रहते थे। वे स्वभावतः विनयी हो जाते थे। केवल बाह्य आचरणमें ही नहीं अपितु मनसे और हृदयसे भी वे पवित्र होते थे। गुरुके प्रति श्रद्धा और भक्तिसे उनकी भावनाएँ भी शुद्ध हो जाती थीं। जैसे स्वच्छ दर्पणमें प्रतिबिम्ब भी स्पष्ट पड़ता है, उसी प्रकार श्रद्धा, भक्ति और सद्भावसे उनकी बुद्धि शुद्ध हो जाती थी और उसपर ज्ञानकी छाप पड़नेमें कठिनाई नहीं होती थी। इसीलिये विनयका प्रश्न आता ही न था। गुरुकुलमें पैर रखते ही चपलता, उद्दण्डता, नटखटपन आदि जितने भी बचपनके दुरभ्यास होते थे, नौ-दो-ग्यारह हो जाते थे। जैसे चपलसे चपल बालक भी मन्दिरमें पहुँचकर अपने माता-पिताको देवताके आगे प्रणाम करते देखकर हाथ जोड़ लेता और सिर झुका लेता है ठीक उसी प्रकार नवागन्तुक शिष्य भी बड़े शिष्योंके आचारको देखकर भयमिश्रित श्रद्धाके साथ गुरुके आगे झुक जाता था। गुरुकी एक अप्रत्यक्ष महत्ता उसके हृदयपर अङ्कित हो जाती थी। वहाँका वातावरण ही विनय सिखा देता था। वहाँ कोई लिखित नियमावली थी ही नहीं, सब कुछ स्वतः होता चलता था।

आजका विनय

किन्तु अब समय बदल गया है। अब तो गुरु लोग, अध्यापकगण, घरसे गणपति-गौरीकी मानता मानकर चलते हैं कि दिन कुशलसे बीत जाय तो पाँच पैसेका प्रसाद चढ़ावें। अधिकांश

छात्रगण समझते हैं कि हम शुल्क देकर पढ़ते हैं, अध्यापक हमारा सेवक है। अध्यापक भी सब प्रकारसे यही समझता है कि यदि मुझे अपनी जीविका रखनी है तो इन देवताओंको प्रसन्न करनेमें ही कुशल है। इसीलिये आजकल ट्रेनिङ्ग कौलेजोंमें कक्षा-व्यवस्था (क्लास मेनेजमेंट) और विनय (डिसिप्लिन) पर बहुत कुछ पढ़ाया-सिखाया जाता है और यह शिक्षण-शास्त्रका एक महत्त्वपूर्ण अङ्ग समझा जाता है।

अभिभावक अपने बालकोंको क्यों भेजते हैं ?

जब एक अभिभावक अपने बच्चेको स्कूल भेजता है तो वह केवल विद्या प्राप्त कराने मात्रके लिये ही उसे नहीं भेजता। वह उसे आदमी बनानेके लिये भी भेजता है—ऐसा आदमी, जिसका समाजमें मान हो, आदर हो। इसके लिये विशेष रूपसे यह आवश्यक हो गया है कि हम अपने छात्रोंको विनय सिखावें। किन्तु आजकल लोगोंमें विनयकी भावना कुछ दूसरे ही प्रकारकी हो गई है। उनका ध्यान यह है कि जो विद्यालयके छात्र पंक्तिमें चलते हों, पैर मिलाकर चलते हों, कक्षामें पाषाण-मूर्तिवत बैठे रहते हों, किसी प्रकार कक्षामें गड़बड़ी न करते हों, वे ही बालक विनयी होते हैं। अँग्रेजी विद्यालयोंमें विनयका प्रायः यही अर्थ लगाया जाता है।

नई पद्धतियाँ

नई मनोवैज्ञानिक पद्धतियोंके अनुसार छात्रोंको परम स्वतन्त्रता दे देनी चाहिए। उन्हें अपने आप विकसित होने तथा सीखने देना चाहिए। श्रीमती मॉन्टेसोरी तथा फ्रॉबेल महोदय इसी सिद्धान्तके पक्षपाती हैं। किन्तु उनकी प्रणालीके अतिरिक्त अन्य अँगरेजी विद्यालयोंमें भी इस आत्मशिक्षाकी भावना बल पकड़ती जा रही है। उसका कुपरिणाम यह हो रहा है कि वहाँके छात्र उद्दंड, उच्छृङ्खल

और स्वच्छन्द हो रहे हैं, स्कूल तथा कक्षाएँ तरकारीकी सट्टियाँ बन रही हैं। पर ये दोनों ही अवस्थाएँ अवाञ्छनीय हैं। न तो इतना बाँधना ही चाहिए कि छात्र मशीनके पुरजे हो जायँ न इतनी स्वतन्त्रता ही दे देनी चाहिए कि बालक अध्यापकोंकी पगड़ी उछालने लगें। पहले प्रकारके विनयकी साधनाके लिये मुख्याध्यापक लोग डंडेका प्रयोग करते हैं। कोई पंक्तिसे बाहर हुआ कि बेंत बरसने लगी, किसीने खँखारा कि सटाकसे कमची पड़ी, कोई कक्षामें ऊँघने लगा कि कमरपर डंडा घहराया। इस प्रकार वहाँ दंडदेवकी सहायतासे विनय-की साधना कराई जाती है। किन्तु इस प्रकारका विनय आडम्बरपूर्ण, दिखावटी और झूठा होता है। बलप्रयोगसे जो काम कराया जाता है वह कभी टिकाऊ नहीं हो सकता। शीघ्र ही बालकोंका हृदय उससे विद्रोह करने लगता है और वे सदा उसे शासन समझते रहते हैं, उस क्रमकी अच्छाइयाँ भी बुराइयाँ ही जान पड़ती हैं। अतः इस प्रकार का विनय तो स्वतः दोषपूर्ण है।

छात्रोंकी स्वतन्त्रता

अब रही स्वतन्त्रताकी बात! वह और भी अधिक भयानक है। नित्यप्रति होनेवाली हड़तालें इसके प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। अतः इन दोनोंके बीच कोई मध्यम मार्ग यह ध्यान करके निकालना चाहिए कि समाज हमसे किस बातकी आशा करता है, अभिभावक अपने बालकोंको क्या बनाना चाहते हैं। समाज चाहता है कि विद्यालयोंसे पढ़कर छात्र सदाचारी, आत्मसंयमी, आत्मत्यागी, समाजसेवी, बुद्धिमान तथा साहसी नागरिक बनकर निकलें। अतः हमें इस प्रकार विनयकी साधना करानी चाहिए कि हमारा यह उद्देश्य पूर्ण हो। यह तो निश्चय है कि छात्र जब कक्षामें बैठते हैं तो उनका उद्देश्य ज्ञान-संचय करना होता है। यह ज्ञान-संचय बिना एकाग्रचित्त हुए सम्भव नहीं है। अतः अध्यापकका पहला

कार्य तो यह होना चाहिए कि छात्रोंका ध्यान पाठकी ओर आकृष्ट करावे। यही विनयकी पहली सीढ़ी है और प्रायः इसी सीढ़ीपर लोग फिसल पड़ते हैं। सच पूछिए तो विनयके सम्पूर्ण साधन इसी सीढ़ीको पार करनेके लिये जुटाए जाते हैं।

एकाग्रता

पाठमें एकाग्रचित्तता इसीसे नहीं समझनी चाहिए कि छात्र चुप हैं, बोल नहीं रहे हैं। संभवतः कुछ झपकियाँ ले रहे हों, कुछ घरकी बातें सोच रहे हों, कुछ उपन्यास पढ़ रहे हों और कुछ बालक, ध्यानसे सुननेकी मुद्रा बनाए शतरंजकी चालें सोच रहे हों। एकाग्र-चित्तताका अर्थ यह है कि बाह्य विनयके साथ-साथ आन्तरिक या मानसिक विनय भी हो, शरीरकी बाह्य इन्द्रियोंके साथ-साथ मन भी स्थिर हो। अध्यापक सदा यह चाहता है कि पाठके समय छात्रोंका ध्यान पोथीमें रहे, उसके बोलनेके समय छात्रोंकी दृष्टि उसके मुँहपर रहे, उनके कान उसकी बातें सुनें और श्यामपट्टपर लिखते समय छात्रोंकी दृष्टि श्यामपट्टपर जमी रहे। अध्यापक यह भी चाहता है कि पाठके बीचमें छात्र बोलें नहीं, विघ्न न डालें, जूते न रगड़ें, डेस्क न खड़खड़ावें। अतः हमें यही विचार करना है कि कक्षाके तीस-बत्तीस छात्रोंकी इद्रियों और उनके मनोंकी एकाग्रता किस प्रकार साधी जाय।

अध्यापकका व्यक्तित्व

कक्षामें विनयकी स्थापनाके लिये सबसे प्रमुख वस्तु है अध्यापकका व्यक्तित्व। व्यक्तित्वकी व्याख्या हम पीछे अध्यापकके गुणोंके साथ कर आए हैं। व्यक्तित्वसे तात्पर्य यही है कि अध्यापकके शरीरसे, वेशसे और व्यवहारसे ऐसा प्रकट हो, छात्रोंपर ऐसा आतङ्क, ऐसा रौब छा जाय कि पहली दृष्टिमें, पहली

भेंटमें उन्हें यह विश्वास हो जाय कि इस व्यक्तिसे डरना भी चाहिए और इसकी पूजा भी करनी चाहिए।

मृदु व्यवहार

किन्तु व्यक्तित्वसे भी अधिक प्रभावशील अस्त्र है मृदु व्यवहार। व्यक्तित्व ईश्वरका प्रसाद है, सबको नहीं प्राप्त हो सकता और मनुष्य उसमें बहुत कुछ हेर-फेर भी नहीं कर सकता। किन्तु अपने व्यवहारको कोमल बनाए रखना तो प्रत्येक व्यक्तिके हाथमें है। अंग्रेजीमें एक कविता है—

स्पीक जेन्ट्ली, 'टिस बेटर फ़ार
टु रूल बाइ लव दैन फ़ीअर,
स्पीक जेन्ट्ली, लेट् नो हार्श वर्ड्स मार
दि गुड वी माइट डू हीअर॥

[नम्रतासे बोलो, डर दिखाकर शासन करनेकी अपेक्षा प्रेमसे शासन करना कहीं अच्छा है। नम्रतासे बोलो। ऐसा न हो कि हम जो भलाई या अच्छा काम करना चाहते हों उसे हमारे कठोर शब्द ले बीतें।] किन्तु मृदु व्यवहारका तात्पर्य दाँत निपोरना, खीसें निकालना और आत्मसमर्पण कर देना नहीं है। आपके मृदु व्यवहारसे छात्रोंको यह आभास नहीं मिलना चाहिए कि आप स्वयं भयभीत हैं और बात-बातमें छात्रोंकी कृपापर अवलम्बित हैं। आपके मृदु व्यवहारका अर्थ यही है कि छात्रोंको यह प्रतीत हो कि अध्यापक महोदय बड़े उदार, महान् और कृपालु हैं, छात्र आपकी कृपाके भूखे रहें। यह मृदु व्यवहार कई प्रकारसे प्रकट किया जा सकता है। आप किसी दीन बालकको आर्थिक सहायता दे सकते हैं, जो पाठमें पिछड़े हुए हों, उन्हें अलग बुलाकर पढ़ा सकते हैं, जो कोई किसी विषयमें सम्मति लेने आवे उसे सम्मति दे सकते हैं, अर्थात् मृदु व्यवहारका सीधा तात्पर्य यही है कि कक्षामें और कक्षाके

बाहर आपकी वृत्ति सहानुभूति, उदारता और विशालहृदयताकी द्योतक रहे, सदा आप सहायता करनेको उद्यत दिखाई पड़ें। मृदु व्यवहारका अर्थ वह सीधापन कभी नहीं है जो प्रायः मूर्खोंकी विशेषता समझी जाती है।

पांडित्य

इसी स्थानपर यह भी कह देना आवश्यक है कि अध्यापकका पांडित्य भी विनयमें बहुत सहायक होता है। यदि छात्रोंको ज्ञान हो जाय कि अमुक अध्यापक अत्यन्त विद्वान् हैं तो उसकी विद्याका एक अलौकिक प्रभुत्व छात्रोंपर स्थापित हो जाता है। किन्तु इसके लिये यह परम आवश्यक है कि आप समय-समयपर अवसर देखकर अपनी विद्वत्ताका प्रकाश भी करते चलें। विद्वत्ता या पांडित्यका अर्थ केवल डिग्री-संचय या परीक्षाओंमें उत्तीर्ण होना ही नहीं है। इसका तात्पर्य यह है कि आप पांडित्य दिखाने, अपने ज्ञानका विकाश करनेके अवसरोंपर चूकिए मत। अपने विषयके प्रत्येक अङ्गको ऐसा मथ रखिए कि उसका नवनीत आप किसी समय भी वितरित कर सकें। बार-बार पुस्तककी शरण लेना और पन्ने खोजना निम्न कोटिके अध्यापकोंका लक्षण है। इसीलिये हमारे देशमें स्वाध्यायकी रीति प्रचलित थी। आजकलका प्रत्येक अध्यापक भी जब अपने विषयका स्वाध्याय, उस विषयसे संबद्ध नये ग्रन्थोंका परिशीलन और नव-विज्ञानसे परिचय बढ़ाता चलेगा तभी वह अपने छात्रोंका उचित मार्ग-प्रदर्शन कर सकेगा, उन्हें ठीक मार्ग सुझा सकेगा। इसलिये अध्यापकको भली भाँति पाठ तैयार करके ही कक्षामें जाना चाहिए।

विनय

छात्रोंमें विनय-भावना भरनेके लिये आवश्यक है कि अध्यापक स्वयं विनयी हो, वह छात्रोंसे जो कुछ कराना चाहता हो उसे स्वयं भी

करनेके लिये प्रस्तुत हो। यदि वह चाहता है कि छात्र सीधे बैठें, कक्षामें समयसे आवें और स्वच्छ रहें तो उसे स्वयं भी सीधे बैठना, समयसे आना और स्वच्छ रहना चाहिए। उदाहरण सदा उपदेशसे श्रेष्ठतर होता है। यदि आप सुस्त और ढीले हुए तो कक्षा भी सुस्त और ढीली हो जायगी। 'यथा राजा तथा प्रजा'के समान ही 'यथा गुरुः तथा शिष्याः' भी हो जायँगे।

रुचिकर विधान

आप छात्रोंसे कभी यह आशा न करें कि घंटेके चालीसों मिनट (यहाँ पढ़ाईके घंटेसे तात्पर्य है, साठ मिनटवाले घंटेसे नहीं) वे शान्त और एकाग्रचित्त रहेंगे क्योंकि यह तो बालक-स्वभावके ही प्रतिकूल है। इसलिये उनकी एकाग्रता बनाए रखनेके लिये यह आवश्यक है कि पाठके बीचमें भिन्न-भिन्न कुतूहलवर्द्धक तथा रुचिकर विधानका प्रयोग किया जाय। इसके विषयमें हम दृश्य-विधान तथा वाच्य-विधानोंका प्रयोग समझाते हुए विस्तारसे बता चुके हैं। तात्पर्य यही है कि छात्रोंको एक क्षणके लिये भी बेकाम न छोड़ा जाय अन्यथा उनके चित्तके भीतर बैठा हुआ बन्दर अवश्य उछलकूद मचाने लगेगा। आप उन्हें ऐसे काममें लगाए रखिए जो एक ही प्रकारका न हो अन्यथा उसमें नीरसता आ जायगी। उन्हें ऐसा बदला हुआ, विभिन्न प्रकारका काम दीजिए जो रुचिकर तथा कुतूहलवर्द्धक होनेके साथ-साथ ज्ञानवर्द्धक भी हो। यदि बीच-बीचमें छात्र अधिक थके जान पड़ते हों और उन्हें कुछ छुट्टी चाहती हो तो एक कहानी कह डालिए, पहेली-बुझौवल करा लीजिए किन्तु बेकार न बैठने दीजिए, क्योंकि बेकारी दुर्विनयकी रंगभूमि है।

पैनी दृष्टि, मधुर वाणी और सधेहुए कान

हम प्रारम्भमें ही कह आए हैं कि विनयकी बहुत-सी समस्याओंका समाधान तो आपकी दृष्टि, आपके कान, आपकी

भावभंगी और आपकी मुद्राओंसे ही हो जाता है। पैनी दृष्टि, मधुर गम्भीर वाणी और सधे हुए कान विनयके स्वाभाविक रक्षक हैं। आपकी दृष्टि ऐसी हो कि कक्षाके भीतरकी प्रत्येक क्रिया आप बन्दी कर सकें और आपके कान ऐसे सधे हों कि सुई गिरे तो आप जान लें कि कक्षाके किस कोनेसे शब्द उठा है। अपनी मुद्रा ऐसी रखिए कि आपको अपनी वाणीका बारबार प्रयोग न करना पड़े, आँखें मिलते ही अपराधी सन्न हो जाय, उसका अपराध उसके मुँहपर आ खड़ा हो, वह स्वयं लज्जित हो जाय और आत्मग्लानिसे वह धरतीमें गड़ जाय। पर अध्यापकको छात्रोंकी सभी बातें सुननी भी नहीं चाहिएँ, कुछ बातें सुनी भी अनसुनी कर देनी चाहिएँ। किन्तु यह विवेक अनुभवसे ही आता है कि क्या सुनना चाहिए, क्या नहीं सुनना चाहिए। न सुनना भी एक कला है और एक निराला कौशल है।

सजीवता

कक्षामें विनयकी प्रतिष्ठाके लिये सजीवता लानी चाहिए, वहाँ निरन्तर कुछ न कुछ होता रहना चाहिए। किन्तु जो कुछ हो, उसमें कड़ाई, कठोरता और विषमताके बदले हँसी, विनोद, चुटकले और शिष्ट चुहल हो। कक्षा कोई समाधि नहीं है जहाँ सब मुहर्रमी आ इकट्ठे हुए हों। बहुत कुछ हँसी-विनोद तो अध्यापककी भाव-भङ्गियोंसे ही सम्पन्न हो जाता है किन्तु ये भाव-भङ्गियाँ शीलयुक्त, शिष्ट और सोद्देश्य होनी चाहिएँ। इनके प्रयोगपर हम पीछे एक अध्याय ही लिख आए हैं। यहाँ इतना ही स्मरण दिलाना है कि इस हँसी-विनोदमें छात्रोंको बनाने अर्थात् मूर्ख बनाने और अपमानित करनेकी प्रवृत्ति कभी नहीं होनी चाहिए।

नये अध्यापक

बहुतसे लोग जब नये-नये अध्यापक होकर जाते हैं तो विनयकी

रक्षाके लिये बड़े सचेष्ट रहते हैं, वारवार छात्रोंको डाँटते और चुप कराते रहते हैं। इस प्रकार वारवार चुप रहने, एकाग्रचित्त होने, ठीक बैठने आदिके लिये आज्ञा देना अध्यापककी अक्षमताका चिह्न है। केवल दरिद्र अध्यापक ही वारवार चिल्लाते हैं—"चुप रहो, सीधे बैठो, क्यों बातें करते हो।" श्रेष्ठ अध्यापक तो अपनी तर्जनी दिखाकर या केवल आँखोंसे ही अपना काम निकाल लेता है। किन्तु यदि इस प्रकारकी आज्ञा देनेका प्रयोजन भी हो तो आज्ञा देनेसे पहले उस आज्ञाके औचित्यपर विचार कर लीजिए और यथासम्भव कम आज्ञाएँ दीजिए। इसीके साथ यह भी स्मरणीय है कि वारवार ध्यान देनेके लिये प्रार्थना भी मत कीजिए—'कृपा करके ध्यान दो', या 'भाई थोड़ा ध्यान तो दो', आदि। यह भी अक्षमताका ही द्योतक है। छात्रोंको इससे टेक मिल जाती है, वे आपकी नस पकड़ लेते हैं और फिर आपको पगड़ी सँभालनी कठिन हो सकती है। ऐसे समय बीच-बीचमें कुछ उदाहरण, कथा, दृष्टान्त आदि देकर आप छात्रोंके भटके हुए मन फिर एकाग्र कर सकते हैं। प्रायः धार्मिक कथाओंमें जो वारवार जय बुलवाई जाती है उसका उद्देश्य केवल ध्यान आकृष्ट करना ही तो होता है। इसी प्रकार पाठके बीचमें भी विभिन्न साधनोंके प्रयोगसे ध्यान आकृष्ट किया जा सकता है पर जय बुलवाकर नहीं।

अधिकारका आतंक

निरन्तर अधिकार जताते चलना भी ठीक नहीं है। 'मैं सबको ठीक कर दूँगा', 'मैं तुम लोगोंको चुप करके छोड़ूँगा' आदि कथन अहंभावके द्योतक हैं और अध्यापककी प्रतिष्ठा और यशके लिये परम घातक हैं। इस प्रकार अधिकार जताने और डाँटने-फटकारनेसे बालक तत्काल भले ही डरकर चुप हो जायँ किन्तु उनके मनमें आपके प्रति श्रद्धा समाप्त हो जायगी। 'ध्यान दो नहीं तो चमड़ी उधेड़ दूँगा' आदि बातें कुसंस्कारकी द्योतिका हैं क्योंकि पहले तो आप

चमड़ी उधेड़ ही नहीं सकेंगे और यदि ऐसा करें भी तो सरकारी वन्दी-गृह आपको अधिक समयके लिये अपना अतिथि बनानेके लिये विवश होगा। हम ऊपर कह भी आए हैं कि अपनी विद्याका भय दिखाइए, अपनी पाशविक शक्तिका नहीं। इससे हमारा यह तात्पर्य कदापि नहीं है कि आप छात्रोंको कभी डाँटिए ही नहीं। डाँटिए अवश्य किन्तु नित्य नहीं, अभ्यासवश नहीं, नियमतः नहीं, अपितु कभी प्रसङ्गवश अवसर पड़नेपर ही। उचित अवसरके परिज्ञानके लिये अपने विवेकसे काम लीजिए।

विनयमें एकरूपता

इस सम्बन्धमें अन्तिम बात यह है कि अपना विनयका क्रम नियमित रखिए। आज सिंह और कल बकरी बननेसे काम नहीं चल सकता। आपको ऐसा मध्यम मार्ग अपनाना चाहिए जिसमें न अधिक कठोरता हो न अधिक मृदुता। अवसर-अवसरपर उसे तनिकसा घटा-बढ़ा कर उसका बलांश बनाए रखिए। इस प्रकार छात्रोंको उचित शिक्षा भी मिल जाती है, वे नियमित और विनयी भी हो जाते हैं।

अनुभव और प्रयोग

इतना सब कह चुकनेपर भी सत्य बात तो यह है कि विनयकी समस्याका कोई एक निर्दिष्ट समाधान नहीं है। अनुभव और मानव-स्वभावके अध्ययनसे ही मनुष्य अधिकाधिक सीखता और समझता चलता है कि किस अवसरपर किस उपायका अवलम्ब लेनेसे उद्दिष्ट फल प्राप्त हो सकता है।

विनय (डिसिप्लिन) और शील (टोन) में अन्तर

विनयकी इतनी व्याख्या कर चुकनेपर यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि विनय वह कृत्रिम बाह्याचार होता है जो कभी कभी

हम लोग निन्दा या प्रशंसा पानेके भय अथवा लाभसे भी प्रदर्शित कर देते हैं। एक व्यक्ति जो घरवालोंके लिये रुद्र रूप होकर दिन-रात उन्हें त्रस्त किए रहता है वही बाहरवालोंसे मिलकर इतना दैन्य प्रदर्शित करता है मानो उसके समान विनीत, साधु और सभ्य दूसरा कोई न हो। इसी प्रकार कुछ ऐसे गोमुख व्याघ्र, पयोमुख विषकुम्भ, मधुजिह्व हालाहल-हृदय व्यक्ति होते हैं जिनसे यदि मिलिए तो वे ऐसी विनय और दैन्यकी मुद्रा बनावेंगे मानो विश्व भरमें इनके समान दीन और विनयी कोई न हो किन्तु उनका हृदय इतना क्षुद्र, मलिन और तुच्छ होता है कि वे किसीकी बड़ीसे बड़ी हानि करनेमें भी संकोच नहीं करते। इसका तात्पर्य यह है कि उनमें प्रत्यक्ष या दिखावटी विनय तो है, पर शील नहीं। शीलयुक्त पुरुष, सच्चे मनसे दूसरोंका उपकार मानता है, दूसरोंके छोटेसे गुणको भी बढ़ाकर कहता है और निरन्तर दूसरोंकी सेवा और दूसरोंका उपकार करना ही अपना धर्म समझता है।

विद्यालयमें शील-भावना

इसी प्रकार किसी विद्यालयमें शान्ति देखकर, छात्रोंको एक पंक्तिमें चलते देखकर या कक्षामें सुस्थिरता देखकर यह नहीं समझना चाहिए कि यहाँ शील भी है। शील तो मनुष्य या वर्गका वह आन्तरिक स्वाभाविक गुण है जो उसे सब स्थितियोंमें समान आचरण-केलिये प्रेरित करता रहता है। शीलवान् पुरुषके चरित्रमें दुहरे आचरण-का अभाव होता है। वह तो मन, कर्म और वचन तीनोंमें एकरस तथा एक-भाव होता है। इसीलिये कहा गया है—

मनस्येकं वचस्येकं कर्मण्येकं महात्मनाम्।
मनस्यन्यद्वचस्यन्यत्कर्मण्यन्यद्दुरात्मनाम्॥

[महात्मा वह है जो मन, वचन और कर्ममें एक हो। दुरात्मा वह है जिसके मनमें कुछ हो, वाणीमें कुछ हो और कर्ममें कुछ हो।]

शील-सिद्धिके साधन

अतः विद्यालयमें बाह्य विनयकी अपेक्षा अंतःशील अधिक आवश्यक है और यह तभी सिद्ध हो सकता है जब पारस्परिक सेवा, सहयोग, धार्मिक भावना, महापुरुषोंके जीवनका अध्ययन, सभा-समाजका संस्कार तथा अध्यापकोंका आदर्श जीवन उन्हें निरन्तर अनुप्राणित करता रहे। प्रत्येक विद्यालयके आचार्यका सर्वप्रथम धर्म यह है कि वह अपने विद्यालयमें शीलका वातावरण प्रस्तुत करे।

१२

पुरस्कार और दंड

अच्छे बालकोंको पुरस्कार और दुष्ट बालकोंको दंड अवश्य मिलना चाहिए। इसमें कोई दो मत नहीं हो सकते। अतः हमें यह भी विचार कर लेना चाहिए कि पुरस्कार और दंड कितने प्रकारके होते हैं, उनमेंसे कौनसे प्रयोजनीय और कौनसे त्याज्य हैं।

पुरस्कार-विधान

पुरस्कार कई प्रकारके होते हैं—

१. आर्थिक पुरस्कार—रुपये-पैसेके रूपमें।

२. सम्मान-पुरस्कार—चाँदी-सोनेके बिल्ले तथा प्रमाणपत्र आदिके रूपमें।

३. सहायक पुरस्कार—पुस्तक, वस्त्र आदिके रूपमें।

४. शाब्दिक पुरस्कार—सबके सामने या एकान्तमें प्रशंसा करके।

आर्थिक पुरस्कार छात्रको लोभी बना देता है। इससे प्रेरित जो छात्र काम करता है वह पैसा कमानेके लोभमें करता है, वह उसके लिये व्यापार बन जाता है। सम्मान-पुरस्कार भी नितान्त व्यर्थ सा ही है क्योंकि वह केवल प्रदर्शन मात्रके लिये रहता है। बिल्ला लगाकर या चौखटमें प्रमाणपत्र मढ़कर रखनेसे आत्मतुष्टि मात्र होती है और अहंकार बढ़ता है। अतः ये दोनों प्रकारके पुरस्कार त्याज्य हैं। तीसरा सहायक-पुरस्कार अच्छा तो है किन्तु वह दीन छात्रों-के अधिक कामका है। धनी लोगोंके लड़के वार्षिकोत्सवके अवसर-

पर भले ही इस प्रकारका पुरस्कार स्वीकार कर लें किन्तु अलग इस प्रकारका पुरस्कार लेनेमें वे अपना अपमान समझेंगे। अतः अध्यापकोंको चाहिए कि कक्षामें यथासंभव प्रशंसाके रूपमें शाब्दिक पुरस्कार ही दें। दूसरोंके सम्मुख अपनी प्रशंसा अपने गुरुजनोंसे सुनकर छात्रोंको एक प्रकारकी सात्त्विक उत्तेजना मिलती है, उल्लास होता है और उनका मन बढ़ता है। यद्यपि इससे भी अहंकार तो आता है किन्तु वह क्षणिक होता है, उससे नैतिक हानि नहीं होती। यों अलग बुलाकर एकांतमें भी प्रशंसा की जा सकती है किन्तु उससे छात्रको प्रसन्नता भले ही हो, सन्तोष नहीं होता। वह दस जनोंके बीच अपना यश सुनना चाहता है और यह दुर्बलता बालकोंमें ही नहीं, बड़े-बड़े त्यागी-महात्माओंमें भी होती है। यह ध्यान रखना चाहिए कि अच्छे कामकी प्रशंसा न करनेसे बड़ा बुरा फल होता है। कर्त्ताके मनमें यह बात बैठ जाती है कि मेरे कामकी कोई पूछ नहीं हुई, फिर मैं क्यों करूँ। इस प्रकार बारबार अपने अच्छे कामोंकी उपेक्षा देखकर सम्भव है वह उलटा ही आचरण करने लगे। अतः अच्छे कार्य्यकी प्रशंसा करनेसे कभी न चूकिए। इतना ही नहीं, अच्छे बालकोंका उदाहरण अन्य छात्रोंके सम्मुख यदा-कदा रखते चलिए जिससे औरोंमें स्वस्थ स्पर्द्धा-बुद्धि जगे और दूसरे छात्र भी अच्छे काम करनेमें प्रवृत्त हों।

दंड-विधान

जिस प्रकार पुरस्कारके अनेक प्रकार होते हैं उसी प्रकार दंडके भी अनेक प्रकार होते हैं—

शारीरिक दंड

जिस दंडके द्वारा छात्रके शरीरको कष्ट मिले वह शारीरिक दंड कहलाता है। इसका उद्देश्य यह होता है कि वह छात्र उस दंडकी

विभीषिकासे डरकर पुनः अपराध न करे और दूसरे छात्र भी उसका कष्ट देखकर वैसा अपराध करनेका साहस न करें। शास्त्रोंमें कहा गया है—

लालने बहवो दोषास्ताडने बहवो गुणाः।
तस्मात्पुत्रं च शिष्यं च ताडयेन्न तु लालयेत्॥

[लाड़-चावसे बालक बिगड़ जाते हैं और ताड़नासे ठीक रहते हैं, इसलिये पुत्र और शिष्यका लाड़ नहीं करना चाहिए, उन्हें ताड़ना देनी चाहिए।] यहाँपर ताड़ना शब्दका अर्थ लोगोंने डंडा चलाना मान लिया है। इसका वास्तविक अर्थ उचित प्रकारसे शासन करना, कुमार्गपर न जाने देना ही है। ताड़नाके नवीन अर्थका परिणाम यह हुआ है कि अनेक पशु-अध्यापकोंने छात्रोंको शारीरिक कष्ट देनेके अनेक नये-नये पाशविक उपायोंका आविष्कार कर लिया जिनमेंसे कुछ हैं—मुर्गा बनना (झुककर दोनों पैरोंके पीछेसे हाथ निकालकर सामने लाना और अपने कान पकड़ना), दोनों हाथ फैलाकर उनपर पाँच-पाँच सेरकी ईंटें रखना, कमर झुकाकर उसपर पत्थर रखना, हाथ-पैर बाँधकर कोठरीमें बन्द कर देना, हाथ बाँधकर खूँटीपर लटका देना, पानीमें बेंत भिगोकर उससे नङ्गी पीठपर मारना, उँगलियोंके बीचमें पेंसिल रखकर दबाना, हाथ उलटवाकर उसपर खड़ा पैमाना मारना, कक्षामें ही सौ-सौ बैठकें कराना, दोनों हाथ ऊपर उठवाकर एक पैरसे खड़ा कराना, धूपमें घण्टों खड़ा रखना, जाड़ेमें ठंडे पानीके छींटे देना, थप्पड़ मारना, कान खींचना, घूँसे लगाना, मोटे गोल डंडे (रूलर) से मारना, चूँटना (चुटकी काटना), खेलके मैदानके चारों ओर दौड़ाना आदि। ये ऐसे जघन्य उपाय हैं जिन्हें सुनकर बर्बरताको भी लज्जा आती है। इन उपायोंका अवलम्ब वे ही अध्यापक लेते हैं जो अभी पशुत्वसे मनुष्यत्वमें प्रवृष्ट नहीं हो सके हैं। हाँ, चारित्रिक दोषोंके लिये बेंतका परिमित प्रयोग सर्वथा अवाञ्छनीय भी नहीं है।

शारीरिक दंडका निषेध

आजकल शिक्षा-विधानने शारीरिक दंडका निषेध कर दिया है और शारीरिक दंड देनेका अधिकार केवल मुख्याध्यापकको ही दिया है। यह बड़ी विडम्बना है कि शिक्षा-विभागवाले पशुताके प्रयोगके लिये मुख्याध्यापकको ही उपयुक्त पात्र समझते हैं। बहुतसे हेडमास्टरोंको पूरे स्कूलके समक्ष छात्रोंको बेंत मारनेका रोग होता है। ऐसे हेडमास्टर शीघ्र ही बदनाम हो जाते हैं और स्वयं पिट भी जाते हैं। किन्तु इनके अतिरिक्त कुछ सरल और शिष्ट शारीरिक दंडोंका विधान भी किया गया है जिनमें नीचे खड़ा रखना, बेंचपर खड़ा करना और कोनेमें अलग खड़ा कर देना मुख्य हैं।

पारिश्रमिक दण्ड

अपराध करनेपर कुछ शारीरिक या बौद्धिक परिश्रम कराना परिश्रम-दंड कहलाता है। यह दंड ऐसा होना चाहिए जिससे छात्रका ज्ञान भी बढ़े, उसके अपराधका भी परिहार हो और वह यह भी समझता रहे कि मुझे दंड मिल रहा है। जो छात्र घरसे काम करके नहीं लाते उन्हें विद्यालय समाप्त होनेके उपरान्त ठहराकर उनसे निर्दिष्ट कार्य्य समाप्त करा लेना इसी प्रकारका दंड है। इस दंडको वन्दी-कक्षा-प्रणाली (डिटेन्शन क्लास-सिस्टम) भी कहते हैं। कभी-कभी किसी शब्दके अशुद्ध लिखनेपर कह दिया जाता है कि इसका शुद्ध रूप एक सहस्र बार लिखो। यह दंड-विधान अधिक सार्थक है किन्तु इसकी भी अति नहीं होनी चाहिए। इसका प्रयोग छठे-छमासे कभी कर लिया जाय तो बुरा नहीं।

आर्थिक दण्ड

अपराध करनेपर विद्यार्थीको अर्थ-दंड देना (जुरमाना करना) अत्यन्त निन्द्य तथा अन्याय्य है क्योंकि इसका भार छात्रपर

न पड़कर उसके पोषकपर पड़ता है। जो पोषक या पिता अपने बालकको पढ़ाने भेजता है, शुल्क देता है, वही दंडित हो, इस अन्यायका किसी भी तर्क-द्वारा समर्थन नहीं किया जा सकता।

सामाजिक दंड

कक्षासे बाहर कर देना, स्कूलसे बाहर निकाल देना, सब लड़कोंसे कह देना कि अपराधी छात्रसे न बोलें, न बात करें, न किसी प्रकारका व्यवहार करें आदि क्रियाएँ सामाजिक दंडके अन्तर्गत हैं। इस दंडका प्रयोग केवल विशेष अवसरोंपर जैसे अवज्ञा अथवा चरित्र-दोषपर ही करना चाहिए।

भीति-दण्ड

बहुधा बालक इस डरसे किसी प्रकारका अपराध नहीं करते कि कहीं हमारे पिता, अभिभावक या मुख्याध्यापकके पास हमारे कारनामोंका समाचार न पहुँच जाय। अतः ऐसे छात्रोंको यह कहकर भी डराया जा सकता है कि यदि सुधार न करोगे तो उचित अधिकारीको सूचना दे दी जायगी। आवश्यकता पड़नेपर पिता या अभिभावकको एक-आध बार सूचना दी भी जा सकती है किन्तु बार-बार मुख्याध्यापकका द्वार खटखटाने या अभिभावकसे बालककी अपस्तुति करनेसे अध्यापककी अक्षमता स्वयं सिद्ध हो जाती है। अतः यथासम्भव अपराधीसे स्वयं निपट लेना अच्छा है, अपनी सहायताके लिये दूसरोंका आश्रय लेना अच्छा नहीं।

तुलनात्मक पक्षपात-दण्ड

अपराधियोंको पीछे बैठाना और उनकी छुट्टी रोक लेना आदि कुछ ऐसे दंड हैं जिन्हें सामाजिक दंडके अन्तर्गत ही समझना

चाहिए। ऐसे दंड लज्जावन्तोंके लिए तो ठीक हैं, पर जिसने लाद लीं हो, लाज-हया धो बहाई हो, चिकना घड़ा हो गया हो, उसपर इस दंडका कोई प्रभाव नहीं पड़ सकता।

दंडमें विवेक

दंड देनेमें सदा विवेकसे काम लेना चाहिए। बदला लेना, व्यक्तिगत, कुटुम्बगत, परिवारगत तथा परम्परागत शत्रुता निकालना दंडका अर्थ नहीं है। इसीलिये शिक्षा-शास्त्री कहते हैं कि क्रोधमें भरकर, आवेगमें आकर दंड मत दीजिए। दंड देनेसे पूर्व अपराध और अपराधीका विचार करके यह निर्णय कीजिए कि किस दंडके प्रयोगसे अपराधीका सुधार होगा। शिक्षण-जगत्के दंड-विधानमें राजकीय दंडविधानके उद्देश्य नहीं आ सकते। हमारी प्रत्येक गतिका उद्देश्य सुधारना और उन्नति करना है। अतः हमारे दंड-विधानका भी यही उद्देश्य है कि उससे छात्र सुधरें।

बुरोंको सुधारना विद्यालयका कर्त्तव्य

बहुतसे आचार्य अपने विद्यालयके बुरे छात्रोंको तत्काल निकालनेके फेरमें रहते हैं, किन्तु यह आचार्यकी अयोग्यताका लक्षण है। भारतके प्रसिद्ध शिक्षाशास्त्री पंडित अमरनाथ झा ने काशीमें सेंट्रल हिन्दू कालेज की स्वर्ण जयन्तीके अवसरपर कहा था कि मैंने आजतक एक छात्रको भी विद्यालय या विश्व-विद्यालयसे निकाला नहीं। यही शुद्ध शिक्षाशास्त्रीका लक्षण है। एक बार किसी विद्यालयके अधिकारीने एक छात्रको निकाल दिया। उसी नगरके दूसरे विद्यालयके मुख्याध्यापकने उस अपराधी बालकको अपने विद्यालयमें भर्त्ती कर लिया। जब शिक्षा-विभागके संचालकोंने उनसे इसका कारण पूछा तो उन्होंने कहा कि "अच्छा

गुरु वह है जो बुरे बालकोंको सुधारे। जो ऐसा नहीं कर सकता उसकी योग्यता और उसके सामर्थ्यमें सबको सन्देह करना चाहिए। जिसने केवल अच्छे बालकोंको ही पढ़ाया-लिखाया, उसने क्या किया, कुछ भी नहीं। वास्तवमें अच्छा अध्यापक वह पारस पत्थर (स्पर्शमणि) है जिससे कुधातु (लोहा) छू जाय तो सोना बन जाय और अच्छा विद्यालय वह है जहाँ बुरे लड़के अच्छे बनाए जाते हैं।

१२

असाधारण बालक

मनुष्योंका व्यापार

प्रायः अध्यापक यह कहते सुने जाते हैं कि संसारमें और लोग तो हीरे-मोती, सोने-चाँदी आदिका व्यवसाय करते हैं, हम मनुष्योंका व्यापार करते हैं। मनुष्योंका व्यापार सुनकर सभ्य समाज एक बार चौंक उठ सकता है और समझ सकता है कि ऐसा कहनेवाला व्यक्ति मनुष्योंका क्रय-विक्रय करता होगा, मनुष्यको दास बनानेके लिये मोल लेता और बेंचता होगा। ऐसे लोगोंका यह कहकर समाधान करना चाहिए कि इन शब्दोंका अर्थ केवल यह है कि जिस प्रकार अन्य वस्तुओंका व्यवसायी अपने व्यापारसे सम्बन्ध रखनेवाली वस्तुओंके विषयमें पूरी जानकारी रखता है उसी प्रकार इन शब्दोंका प्रयोग करनेवाला व्यक्ति, मानव-चरित्रकी साङ्गोपाङ्ग जानकारी रखता है; उसे भिन्न प्रकारके आचार-विचार, रहन-सहन, मति-गति रखनेवाले मनुष्योंके बीच रहना पड़ा है और इसीलिये उसे भिन्न-भिन्न रुचि, बुद्धि और स्वभाववाले मनुष्योंका पूरा परिचय है। ऐसी जानकारी रखनेवाले लोग किसी विलक्षण पुरुष या व्यक्ति-विशेषपर दृष्टि पड़ते ही यह बतला दे सकते हैं कि वह चोर है या साधु, व्याध है या वैष्णव, महाधूर्त्त है या परम सत्यवादी।

स्वभावकी पहचान

यद्यपि आज मनोविज्ञान और मनोविश्लेषण-शास्त्रके अध्ययन और प्रचारसे मनुष्योंकी चित्तवृत्ति पहचाननेका व्यवस्थित प्रयत्न किया जा

रहा है परन्तु यह मनुष्य पहचाननेकी विशेष कला किसी पाठशाला अथवा गुरुकुलमें नहीं सिखाई जा सकती। इसके लिये जो पुस्तकें हैं वे भी निश्चित रूपसे पूर्ण प्रामाणिक नहीं हैं। अभीतक इस विषय-पर खोज होती रही है किन्तु अन्तिम निर्णय नहीं हो पाया है। वास्तव-में जो यह विद्या सीखना चाहें उनके लिये यह विराट् विश्व ही विश्वविद्यालय है, अनुभव ही अध्यापक है, मनुष्योंकी आकृतियाँ ही खुली हुई पोथियाँ हैं और सारा जीवन ही शिक्षा-काल है। यह विद्या सबके लिये इतनी आवश्यक है कि इसके अभावमें मनुष्य-जीवनके किसी भी क्षेत्रमें किसीको सफलता नहीं मिल सकती और अध्यापक-के लिये तो इसके ज्ञानसे अपरिचित होना अत्यन्त अनर्थकारी है। मनुष्य पहचाननेकी कलामें अक्षम अध्यापक कभी सफल अध्यापक हो ही नहीं सकता। अध्यापकका सबसे पहला कर्त्तव्य यही है कि वह अपने प्रत्येक शिष्यकी आकृति एवं प्रकृतिसे शीघ्र ही भली भाँति परिचित हो जाय और तदनुसार उसके ज्ञान तथा चरित्रके विकासमें सहायता देता चले।

साधारण अंग्रेजी विद्यालयके अध्यापकको नित्य कमसे कम चार कक्षाओंसे पाला पड़ता है और वह नित्य सवा सौके लगभग छात्रोंके संसर्गमें आता है। यदि इन सवा सौ छात्रोंके स्वभाव तथा चरित्रका विश्लेषण किया जाय तो मोटे तौरसे बालक-बालिकाओंकी निम्नलिखित श्रेणियाँ बनेंगी—

बुद्धिके अनुसार

१. कुशाग्र-बुद्धि—जो पाठको एक बार पढ़कर समझ ले।

२. बुद्धिशाली—जो ध्यान देनेसे शीघ्र समझ ले।

३. साधारण बुद्धिशाली (परिश्रम करके समझनेवाला)—जिसे सीखने और समझनेमें कुछ परिश्रम करना पड़े किन्तु उसे सीखनेमें रुचि हो।

४. मन्दबुद्धि—जो बार-बार समझानेपर भी न समझे।

५. मूढ़—जो किसी भी काममें रुचि न दिखलावे कभी, कुछ भी समझ न पावे, सुन्दर वस्तुको देखकर या सुनकर भी प्रभावित न हो।

६. सनकी—जो अर्द्ध विक्षिप्त हो। सनकमें आ गई तो बीस घंटे पढ़ते ही रहे, लिखते ही रहे या गणित ही करते रहे।

७. पागल—जिसके मस्तिष्कमें विकार आ गया हो, ज्ञान-शून्यता हो गई हो।

स्वभावके अनुसार—

१. सीधे—जो अपने कामसे काम रखते हैं, न किसीको छेड़ते न किसीसे अधिक मिलते-जुलते हैं। उन्हें कोई गाली भी दे तो चुपचाप सुनकर सह लेते हैं, उत्तर नहीं देते। ऐसे छात्रोंकी रक्षाका भार अध्यापकपर ही होता है।

२. चंचल—जिनमें इतनी अधिक शक्ति भरी रहती है कि वे एक क्षणके लिये भी स्थिर नहीं रह सकते। खंजनके समान प्रतिक्षण उछल-कूद, उठ-बैठ मचाए ही रहते हैं, उनके सब अङ्ग सदा चंचल रहते हैं।

३. नटखट—जो प्रतिक्षण इसी उधेड़-बुनमें रहते हैं कि किस प्रकार हम एक नई घटनाका निर्माण करें और दूसरोंको तङ्ग करें।

चरित्रकी दृष्टिसे—

१. अत्यन्त सच्चरित्र—जो सत्यवादी, मृदुभाषी, सबको सहायता देनेवाले और नियमित आचरणवाले होते हैं।

२. मध्यम चरित्रवाले—जो मनसे सच्चरित्र नहीं होते किन्तु समाज या दंडके भयसे अपना आचरण ठीक बनाए रखते हैं।

३. दुश्चरित्र—जो झूठे, कठोरभाषी, सीधे लड़कोंको तंग करने-

वाले, चरित्रहीन और अपने सब कार्योंमें अनियमित होते हैं तथा सुन्दर बालकों बालिकाओंका पीछा किया करते हैं।

४. गुण्डे—जिनका काम भोले-भाले लड़कोंको डरा-धमकाकर पैसे ऐंठना, छेड़छाड़ करना, तंग करनेके लिये सामान छीन लेना, चुरा लेना, हट-चढ़ा देना या तंग करना होता है।

शारीरिक अवस्थाकी दृष्टिसे—

१. स्वस्थ और हट्टे-कट्टे।
२. दुर्बल और रोगग्रस्त।
३. बहुत मोटे।
४. बहुत पतले।
५. सुदर्शन।
६. कुदर्शन।
७. साधारण स्वास्थ्यवाले।
८. विकलांग।

आचरणकी दृष्टिसे—

१. व्यसनी—अ. खानेका व्यसन—चटोरे।
आ. पहननेका व्यसन—छैले।
इ. मेले तमाशेका व्यसन—घुमक्कड़।
ई. गाने-बजानेका व्यसन—रसिया।
उ. सिनेमाका व्यसन—आवारा।
ऊ. उपन्यास-कहानी पढ़नेका व्यसन—घरनासी।
ए. नशेका व्यसन—सिगरेट, पान, चाय, तम्बाकू भाँग आदिका व्यसन—भँगेड़ी या मदकची।
ऐ. खेल-कूदका व्यसन—खेलाड़ी।
ओ. पढ़नेका व्यसन—पढ़ाकू।
औ. नेतागिरीका व्यसन—घर-उजाड़।

अं. चित्र खींचने आदिका व्यसन—चितेरा

अः. ताश और जुआ खेलनेका व्यसन—जुआड़ी

२. कामचोर—जो आलसी या अकर्मण्य होते हैं। जो काम बताया जाय उसे करनेमें जी चुरावें, दूसरोंपर टाल दें या देरसे करें और यदि करें भी तो रो-गाकर, प्रसन्न मनसे नहीं।

३. भगोड़—कक्षामेंसे भाग जानेवाले। घरसे पाठशालाके लिये चलें और पहुँच जायँ उद्यानमें।

४. निश्चिन्त या मस्त—जिन्हें अपने निर्दिष्ट कार्यकी कभी चिन्ता ही नहीं रहती। विद्यालय जाते-जाते बीचमें बन्दर-भालूका नाच होता हो तो देखने ठहर जाते हैं।

५. लोभी—जो सदा दूसरोंसे कुछ पानेकी ही आशा करे।

६. कंजूस—अपनी वस्तु अथवा पैसा किसीको न दे, उलटा दूसरोंका ले ले।

७. सदा असन्तुष्ट—अपने घरकी, विद्यालयकी, मित्रोंकी सभीकी शिकायत करनेवाला, मानो सारे संसारने उसपर अन्याय किया हो।

८. ईर्ष्यालु—दूसरोंकी उन्नतिसे डाह रखनेवाला।

९. अहङ्कारी—अपनेको बड़ा योग्य, चतुर और सर्वगुण-सम्पन्न समझनेवाला यद्यपि उसमें योग्यता कुछ भी न हो।

१०. साहसी—जो दूसरोंको बचानेके लिये अपने ऊपर कष्ट सहे, साहसके काममें सदा आगे रहे, कभी डरे नहीं।

११. दुखी—घरकी परिस्थितियोंके कारण विपन्न और निराश्रित तथा इसी कारण पठन-पाठनमें असावधान और अनियमित।

१२. दुर्ललित—लाड़-प्यारमें बिगड़े हुए, बात-बातमें अपने माता-पिताकी दुहाई देनेवाले, अशिष्ट और कामचोर बालक।

१३. चोर—जो घरमें सब कुछ होते हुए भी या अभावमें या दूसरोंको तंग करनेके लिये चोरी करते हैं।

१४. कुसङ्गवाले—जिन्हें ऐसे बुरे आदमियोंकी सङ्गत मिली हो जो उन्हें चरित्रहीन और अपव्ययी बनाते हों।

१५. स्वाभाविक अपराधी—नियमित अपराधियों या निम्न श्रेणीके वे लड़के जो चोरी, जेबकतरी, उचक्कापन, हत्या आदि सभी कुविद्याओंमें संस्कारतः कुशल हों।

१६. अनियमित—समयपर न आनेवाला और नियमसे काम न करनेवाला।

अपूर्ण सूची

ऊपर हमने विद्यालयोंमें मिलनेवाले यथासम्भव सभी प्रकारके बालकोंका ब्यौरा दिया है किन्तु यह सूची पूरी नहीं है। अभी बहुत सी ऐसी श्रेणियाँ सम्भव हो सकती हैं जो हमारी तालिकामें छूट गई होंगी किन्तु साधारणतया अध्यापकोंके व्यवहार और अनुभवमें आनेवाले छात्रोंके प्रायः सभी प्रकार हमारी सूचीमें आ गए हैं। हम इस अध्यायमें यही विचार करेंगे कि इन छात्रों-को वशमें रखने और उन्हें उन्नत बनानेके लिये कौनसी कलाएँ काममें लाई जायँ।

व्यवहारमें भेद

यदि हम किसी साधारण बुद्धिवाले व्यक्तिसे पूछें कि अच्छे बालकोंसे कैसे व्यवहार किया जाय और दुष्ट बालकोंसे कैसा, तो वह तत्काल यह उत्तर देगा कि अच्छे बालकोंसे प्रेमका व्यवहार करो, उन्हें पुरस्कार दो और दुष्ट बालकोंको दण्ड दो। किन्तु हम देखते हैं कि साधारणतया अध्यापकगण सबको एक लाठीसे हाँकते हैं। जिसपर उनकी लाठी असफल सिद्ध हो जाती है उसे वे बहिष्कृत विद्यार्थियोंकी श्रेणीमें रख देते हैं, वे उन्हें समस्या मानकर

उसे सुलझानेका कोई उपाय नहीं करते। मान लीजिए किसी कक्षामें एक ऐसा विद्यार्थी है, जो पढ़ने-लिखनेसे जी चुराता है, पाठशालामें जो कार्य्य उसे घरपर करनेके लिये दिया जाता है उसे नहीं करता, कक्षामें अध्यापक-द्वारा लांछित और अपमानित होता है, अध्यापक जब गणित पढ़ाते हैं उस समय वह चित्रकारी करता है, जिस समय उसके सहपाठी अपना पाठ घोखते हैं उस समय वह तान लड़ाता है, ऐसे विद्यार्थीको साधारणतया अध्यापकगण मूढ़ समझ लेते हैं। पर यदि सभी बातोंपर विचार किया जाय तो वह विद्यार्थी कदापि मूढ़ प्रमाणित न होगा। उसमें बुद्धिका अभाव नहीं है। परिश्रम करनेमें भी वह पीठ नहीं दिखाता। चार-छः घण्टे नित्य ही जब वह संगीतका अभ्यास करता है तो उसे आलसी कैसे कहा जा सकता है। प्रस्तुत विद्यार्थीमें दोष केवल इतना है कि उसकी रुचि अन्य दिशाकी ओर है। उसके इच्छित विषयको माध्यम बनाकर यदि उसे पढ़ने-लिखनेकी शिक्षा दी जाती तो वह अवश्य सफल होता।

दीन परिवारोंके छात्र

इसी प्रकार कुछ विद्यार्थी ऐसे भी होते हैं जो दीन-हीन परिवारोंसे आते हैं। वे साधारणतया सुबुद्धि-सम्पन्न होते हैं, उनमें लगन होती है और चरित्र-दोष भी प्रायः नहीं होता। जिस वातावरणमें वे पलते हैं वह भी अवांछनीय प्रभावकारक नहीं होता। फिर भी वे पाठ्य-विषयको भली भाँति हृदयङ्गम नहीं कर पाते। परिणाम यह होता है कि वे बुद्धिहीन मान लिए जाते हैं और यह विचार नहीं किया जाता कि सारी झंझटका कारण उनकी शारीरिक दुर्बलता भी हो सकती है, पौष्टिक भोजनका अभाव भी इसके लिये दायी हो सकता है, और घरकी दरिद्रताकी चिन्ता भी उसे सता सकती है।

अभिभावकों-द्वारा उत्पन्न की हुई उलझनें

इसके अतिरिक्त अनेक अंशोंमें बालकके माता-पिता भी बालकोंमें उलझनें उत्पन्न कर देते हैं। रोग कुछ होता है औषधि कुछ दी जाती है। एक उदाहरणके द्वारा इस प्रसङ्गको स्पष्ट कर देना अनुचित न होगा।

गम्भीर अभिभावकका पुत्र

किसी विद्वान् सज्जनका एक लड़का है। उक्त सज्जन उसे अपने ही जैसा विद्वान् बनाना चाहते हैं। उनके विचारसे विद्वान् बननेकी एकमात्र युक्ति है—सबको तजो, विद्याको भजो। खेल-कूद, तमाशा सब कुछ उन्होंने अपने पुत्रके हितकी दृष्टिसे निषिद्ध कर रखा है। पर यही निषेध उनके पुत्रका गला घोंट रहा है। वे अच्छे-अच्छे अध्यापकोंको अपने पुत्रका गृहशिक्षक नियुक्त करते हैं। पर बालक दिनों दिन नटखट होता जाता है। अध्यापकके आनेपर वह शिष्ट विद्यार्थीके समान उनके सामने उपस्थित होता है, काम करना भी प्रारम्भ करता है, पर दस ही पाँच मिनट पीछे वह अन्तःपुरकी ओर देखकर बोल उठता है—हाँ! अच्छा अभी आया—और घरमें घुस जाता है, फिर लौटनेका नाम नहीं लेता। एक लाल दाढ़ीवाले मौलवी साहब उसे पढ़ाने आते हैं। उनसे उसने पहले ही दिन प्रश्न किया—मौलवी साहब! क्या आप कभी सुरखी कूटते थे। कहनेकी आवश्यकता नहीं कि उसने यह बात मौलवी साहबकी लाल दाढ़ी देखकर कही।

उचित पथ-प्रदर्शन

उपर्युक्त घटनाएँ यह प्रमाणित करती हैं कि उक्त बालकमें सजीवता और मौलिक उद्भावनाकी कमी नहीं है, अभाव है उचित पथ-प्रदर्शनका। यह अभाव उसे समस्यापूर्ण बालक

बना रहा है। उसका सुधार एक समस्या है जिसका समाधान एक चतुर शिक्षकने* इस प्रकार किया। जिस दिनसे वह उसे पढ़ानेके लिये नियुक्त हुआ उस दिन वह अपने विद्यार्थीके घर सायंकालको पहुँचा। बालक कुछ डरता-झिझकता उसके पास आकर पढ़नेके लिये बैठ गया। परन्तु चतुर अध्यापकने विद्यार्थीसे कहा कि सन्ध्याका समय तो खेलनेके लिये होता है। यदि तुम्हारे पास फुटबॉल हो तो ले आओ। विद्यार्थी अचरजमें भर गया। उसे अध्यापकके मुखसे ऐसे प्रस्तावकी आशा न थी। फिर भी उसने इस आज्ञाका पालन बड़ी तत्परतासे किया। गुरु-शिष्य मैदानमें खेलने लगे। चलते समय अध्यापकने कहा—भाई अकेले खेलनेमें आनन्द नहीं आता। कुछ लड़के तुम इकट्ठे करो कुछ मैं अपने साथ लाऊँ। विद्यार्थी कृतज्ञतासे भर गया। अध्यापकको बाहर-तक पहुँचाने आया। दूसरे दिन उसी समय शिक्षकोंसे दूर भागनेवाला वह बालक नवीन अध्यापककी प्रतीक्षा करने लगा। उसके आनेपर पुनः खेल प्रारम्भ हुआ। सप्ताह बीतनेपर अध्यापककी सम्मतिसे बालकके माता-पिताने उसके सामने एक दिन अध्यापककी शिकायत की और उसे छुड़ानेका विचार प्रकट किया। यह सुनकर वह बालक अत्यन्त दुखी हुआ। अध्यापकके आनेपर उसने स्वयं कहा कि अब आप कुछ पढ़ाया भी कीजिए नहीं तो हमारे पिता आपको छुड़ा देंगे। अध्यापक तो यही चाहता ही था। उसने उसे पढ़ाना प्रारम्भ किया और भविष्यमें पुनः बालककी शिकायतका कोई अवसर न आया।

* हिन्दुस्तान स्काउट एसोसिएशनके चीफ कमिश्नर पं० श्रीराम बाजपेयी।

आत्महीनताका भाव

इसी प्रकार अभिभावकोंके व्यवहारसे कुछ बालकोंमें आत्म-हीनताकी ग्रन्थि उत्पन्न हो जाती है जिसका एक अद्भुत उदाहरण नीचे दिया जाता है। किसी व्यक्तिके दो बच्चे थे। उनमें एक था बालक और दूसरी थी बालिका। बालिकाका छोटासे छोटा दोष महा अपराधमें गिना जाता था जिसके फलस्वरूप वह नित्य ही दंडित होती थी। दूसरी ओर बालक अपराध करनेपर भी प्रशंसित होता था और माता-पिता उसे और भी अधिक प्यार करते थे। इसका परिणाम यह हुआ कि बालिकाके हृदयमें आत्महीनताकी ग्रंथि जड़ पकड़ने लग गई। उसने धीरे-धीरे हकलाना प्रारम्भ किया और अन्तमें बिलकुल मौन रहने लगी। अब माता-पिताको चिन्ता उत्पन्न हुई। वे उसे बाल-मनोविज्ञानके किसी जानकारके पास ले गए। उसे सारी कथा सुनाई। उस व्यक्तिने लड़कीको अपने पास बुलाया और उससे बातचीत करने लगा। पर लड़की मौन ही रही। अंतमें उसने उस लड़कीके सामने प्रकारान्तरसे उसीकी कथा कहनी प्रारम्भ की। लड़कीकी आँखोंमें तुरन्त समझदारीकी चमक आ गई और सारी बातें अत्यन्त ध्यानसे सुनने लगी। अन्तमें जब उससे कथाकी बालिकाके अद्भुत आचरणका कारण पूछा गया तब क्रोधसे उसने अपने ही आचरणका कारण कह डाला और अपनी रामकहानी सुनाते हुए अन्तमें कहा कि जब मैं नटखटी करती हूँ तब वे मुझे म-म-म-मारते हैं पर जब वह करता है तब उसे वे प-प-प-प्यार करते हैं। कहिए क्या आप इसे उचित समझते हैं। अपनी कथा कहते हुए बालिका केवल दो बार हकलाई—मार और प्यार शब्दका उच्चारण करते हुए। बालिकाके माँ-बापको सलाह दी गई कि वे अपने व्यवहारमें परिवर्तन करें। इसी प्रकार

अध्यापकोंके कठोर व्यवहारसे भी भयंकर दुष्परिणाम हो सकते हैं।

पुरस्कार और दंड-विधान

नीचे हम अपनी तालिकाके अनुसार प्रत्येक प्रकारके छात्रके साथ व्यवहार करने अर्थात् पुरस्कार या दंड देनेका विधान बताते हैं—

बुद्धिके अनुसार

१. कुशाग्रबुद्धि बालकको सदा प्रोत्साहित करते रहना चाहिए। उसे सदा दूसरोंके सम्मुख उदाहरण-स्वरूप रखना चाहिए और उसपर मन्द बालकोंको सहायता देने और पढ़ानेका भार दे देना चाहिए। इससे उसमें आत्मविश्वास बढ़ता है, आत्ममहत्ताके भावको पोषण करनेमें सहायता मिलती है और दूसरेकी सहायता करनेका भाव उत्पन्न होता है।

२. साधारण बुद्धिमानके ठीक काम करनेपर उसकी पीठ ठोंकनी चाहिए और प्रशंसा करनी चाहिए।

३. परिश्रम करके समझनेवाले छात्रके साथ परिश्रम करना चाहिए और उसे कक्षासे बाहर भी सहायता देनी चाहिए।

४. मन्द-बुद्धिको मूर्ख कहकर दुरदुराना नहीं चाहिए। उसे कुशाग्रबुद्धि छात्रोंके हाथ सौंप देना चाहिए और सदा सहानुभूतिमय व्यवहार करके उसे प्रोत्साहन देते चलना चाहिए। वह थोड़े दिनोंमें ठीक हो जायगा।

५. मूढ़की शिक्षाके लिये दृश्य विधानोंका प्रयोग करना चाहिए। चलते-फिरते या रंगीन चित्र तथा अद्भुत वस्तुओंके निरन्तर प्रदर्शनसे उसकी मूढ़ता दूर हो जायगी।

६. सनकीको यदि ठीक पथ दिखला दिया जाय तो वह आगे चलकर बड़ा काम कर सकता है। संसारके सभी महापुरुष सनकी हुए हैं। जिसकी सनक पूरी हो जाती है उसे हम लोग

महात्मा, दृढ़ और साहसी कह देते हैं किन्तु जो असफल हो जाता है, जिसे ठीक पथ नहीं मिल पाता वह सनकी और पागल कह दिया जाता है। अतः सनकीकी सनकको ठीक तथा लोक-कल्याणकारी मार्गपर मोड़ दो बस उसका और समाजका कल्याण निश्चित है।

७. पागलको विद्यालयोंमें न रखकर पागलखानेमें रखना चाहिए। यों तो मनोविश्लेषण-शास्त्रियोंने पागलोंको सुधारनेके भी अनेक उपाय सुझाए हैं और पागलोंपर प्रयोग भी किए हैं किन्तु साधारण अध्यापकको पागलोंसे दूर ही रहना चाहिए। उनकी चिकित्सा वैद्यों तथा मनोविश्लेषण-शास्त्रियोंपर ही छोड़ रखनी चाहिए।

स्वभावके अनुसार

१. सीधे बालकोंपर सदा दृष्टि रखनी चाहिए कि वे दुष्ट बालकोंके आखेट न बन जायँ क्योंकि उन्हें कुमार्गपर ले जाना दुष्टोंके बाएँ हाथका खेल है। उन्हें सदा किसी ऐसे काममें लगा रखना चाहिए कि उन्हें दुष्ट लड़कोंकी गति देखने और उनका अनुसरण करनेका अवसर ही न मिले।

२. चंचल बालकोंको कुछ न कुछ चलने-फिरने, हिलने-डुलनेका काम देना चाहिए। श्यामपट्ट पोंछना, स्याही बाँटना, कापी बाँटना या खड़िया लाना आदि कामोंके द्वारा उनसे अधिक-से अधिक शारीरिक श्रम लेना चाहिए। ऐसा काम न मिलनेपर वे आपके सिरपर कूदने लगेंगे। पाठके समय भी ऐसे ही छात्रोंसे श्यामपट्टपर अर्थ लिखवाना, मानचित्र आदि बनवाना या समय-सरणि तैयार करानेका काम लेना चाहिए।

३. नटखट बालकोंसे भी उसी प्रकार व्यवहार करना चाहिए जैसे चंचल बालकोंसे। अन्तर केवल इतना ही रहे कि नटखट

बालकोंसे ऐसा काम लेना चाहिए कि उन्हें इधर-उधरकी बातें सोचनेका अवसर ही न मिले। ऐसे बालकोंको बीच बीचमें टोकते भी रहना चाहिए और दुष्टता करनेपर उन्हें कक्षा-समाजसे अलग कर देना चाहिए। बस दो तीन बार ऐसा करनेसे उनका नटखट-पन छूट ही जायगा। अधिक दुष्टतापर उसके अभिभावकोंका ध्यान भी आकृष्ट कराना चाहिए और नैतिक अपराधपर बेंतका भय दिखा देना भी कुछ बुरा नहीं है।

चरित्रकी दृष्टिसे

१. अत्यन्त सच्चरित्रको सदा दूसरोंके आगे आदर्श रूपमें रखना चाहिए और उसका यथावसर उदाहरण देकर उसकी प्रशंसा करनी चाहिए।

२. मध्यम चरित्रवालोंकी ओर अधिक सावधानी रखनी चाहिए। उन्हें कथाओं और उपदेशोंके द्वारा सदा सचेत करते रहना चाहिए। उनके समक्ष ऐसे आख्यान रखने चाहिएँ जिनमें सच्चरित्रोंका सम्मान किया गया हो और दुश्चरित्रोंकी इस लोक तथा परलोक दोनोंमें दुर्गति दिखाई गई हो।

३. दुश्चरित्रोंको ठीक करनेका सबसे सरल उपाय यह है कि उन्हें पाठके प्रश्न पूछकर मूर्ख और बुद्धिहीन सिद्ध कर दिया जाय; साथ ही यह भी कहते रहा जाय कि जो चरित्रवान होता है उसे विद्या शीघ्र आती है। सब छात्रोंको गुप्त रूपसे उस छात्रसे बचते रहनेका आदेश दे देना चाहिए। विद्यालय बन्द होनेके पीछे उसे तबतक किसी बहाने रोक रखना चाहिए जबतक अन्य बालक बहुत दूर न निकल जायँ। उसकी सङ्गतिमें जिस बालकको देखें उसे दूर कर दें। ऐसे छात्रोंको सबके सम्मुख मूर्ख बनाने और डाँटनेसे भी बड़ा प्रभाव पड़ता है किन्तु ऐसा न हो कि वह उल्टा उत्तर देने लगे।

४. कभी कभी विद्यालयोंमें किसी ऐसे छात्र या छात्राका पदार्पण हो जाता है जिसका विवाह हो चुका होता है या जिसे अपरलिंगी सम्पर्क अथवा समलिंगी आसक्तिका अनुभव हो चुकता है। ऐसे छात्र या छात्राएँ विद्यालय और छात्रावासके लिये अभिशाप बन जाती हैं। ये विद्यालयके सुन्दर बालकों या बालिकाओंको आखेट बनाते हैं और उन्हें वस्त्र, मिठाई, लेमनी, रूमाल, चूड़ियाँ आदि आकर्षक पदार्थ देकर, सिनेमा दिखाकर, पान-सिगरेटका प्रलोभन देकर अपने वशमें करके अत्यन्त गाढ़ मैत्री स्थापित कर लेते (या लेती) हैं और फिर इस नये मित्र या मित्राणीको अनेक प्रकारके हस्त-मैथुन, सम मैथुन, आलिंगन, चुम्बन, मुख मैथुन आदिके भयङ्कर दुरभ्यास डालकर उनको इतना विशीर्ण कर देते हैं कि उनके शरीरकी कान्ति नष्ट हो जाती है, मूर्छा, गर्मी, उपदंश, प्रदर, क्षय, उन्माद आदि भयङ्कर रोग हो जाते हैं और उनका सारा जीवन नष्ट हो जाता है। कन्याओंके विद्यालयों और छात्रावासोंमें इस प्रकारकी घटनाएँ बड़े वेगसे बढ़ रही हैं। आचार्य तथा गृहपतिको इस विषयमें सचेष्ट होकर विवाहित छात्रों (छात्राओं) से अविवाहित, भोले तथा सुन्दर छात्रों (छात्राओं) को दूर रखना चाहिए और उनमें कभी किसी प्रकारका सम्पर्क नहीं होने देना चाहिए। कक्षामें भी उन्हें अलग-अलग बैठाना चाहिए और उनमें वस्तुओंका आदान-प्रदान रोक देना चाहिए।

शारीरिक अवस्थाकी दृष्टिसे

१. स्वस्थ और हट्टे-कट्टे छात्रोंको सेनागिरीकी शिक्षा और दूसरोंकी रक्षा करनेका उपदेश देते रहना चाहिए। उनको यह बतलाते रहना चाहिए कि स्वस्थ शरीर दूसरोंकी रक्षा करने और ज्ञान प्राप्त करनेके लिये भगवानने दिया है, निर्बलोंके द्वारा और दूसरोंको कष्ट देकर इसका दुरुपयोग नहीं करना चाहिए। ऐसे

छात्रोंको समाजसेवा आदि कार्योंके लिये प्रोत्साहित करना चाहिए और जो स्वयं इस प्रकारके सेवा-कार्य्योंमें भाग लेते हों उन्हें पुरस्कृत करना चाहिए।

२. दुर्बल और रोगग्रस्तोंसे बड़ी कोमलताका व्यवहार करना चाहिए। उनकी अवस्थाका उचित कारण जानकर उनकी उचित सहायता करनी या करानी चाहिए। ऐसे बालक प्रायः पढ़ने-लिखनेमें भी फिसड्डी रहते हैं। इसका कारण उनकी मानसिक दुर्बलता या बुद्धिहीनता नहीं अपितु शारीरिक दुर्बलता ही है।

३. बहुत मोटे लड़कोंको अध्यापक और छात्र प्रायः सभी लोग मोटा-मोटा कहकर चिढ़ाते हैं। यह बुरी बात है। मोटे लड़कोंको हलके परिश्रमका काम देना चाहिए और यथासाध्य उन्हें चेतन रखना चाहिए। मोटे छात्रोंकी बुद्धि प्रायः मोटी होती है, शारीरिक व्यायाम उनसे हो नहीं सकता, अतः नित्य उनसे चलने-फिरनेका काम लेकर उन्हें गतिशील रखना चाहिए। ऐसा करनेसे उनका मोटापन घटेगा, उनमें फुर्ती आवेगी और फुर्तीके साथ उनकी बुद्धि भी बढ़ेगी।

४. बहुत दुबले-पतले लड़कोंकी भी वही दशा होती है जो बहुत मोटोंकी। ऐसे छात्रोंके लिये भी उचित व्यायामका विधान करना चाहिए और ऐसा मार्ग सुझाना चाहिए जिससे वे मोटे भले ही न हों पर गतिशील अवश्य रहें, थके या हारे हुए न रहें।

५. सुदर्शन या सुन्दर बालक प्रायः दुश्चरित्र लड़कोंकी वासनाके शिकार हो जाते हैं और एक बार वे जालमें पड़े कि फिर उनका निकलना कठिन हो जाता है। यह रोग केवल लड़कोंमें ही नहीं, लड़कियोंमें भी तीव्रतासे बढ़ रहा है और शिक्षाशास्त्री लोग इसका ठीक-ठीक उपाय कर नहीं पा रहे हैं।

अमेरिकामें शिक्षाशास्त्रियोंने इसका कारण देरसे विवाह करना बताया है। अतः इस समस्याको सुलझाना टेढ़ी खीर है। फिर वास्तविक अपराधको पकड़ पाना तो और कठिन है। किन्तु आँखें सध जानेपर ऐसे लोगोंको चुन लेना कुछ कठिन भी नहीं है। सुदर्शन बालकोंको यथासम्भव सब बालकोंमें दूर और अलग रखना चाहिए, कक्षामें भी अलग बैठाना चाहिए और उनपर विशेष दृष्टि रखनी चाहिए। अध्यापकोंको भी स्वयं ऐसे बालकोंसे दूर रहना चाहिए।

६—कुदर्शन या भद्दी सूरतवाले छात्रोंकी विद्यालयोंमें बड़ी दुर्दशा होती है। उनकी गणना जानवरोंमें की जाती है, उनके भालू, बन्दर, रीछ आदि विचित्र नाम रख लिए जाते हैं और सब लोग उन्हें चिढ़ानेमें विशेष आनन्द पाते हैं। बहुतसे अध्यापकोंमें भी यह भद्दी आदत होती है कि वे ऐसे बालकोंके ऐंड़े-बेंड़े नाम रख लिया करते हैं। ऐसे बालकोंको यह कहकर उत्साहित करना चाहिए कि भाई सुकरात भी कुदर्शन था, शिवाजी भी कोई बड़े सुन्दर नहीं थे और संसारका सबसे बड़ा राजनीतिज्ञ चाणक्य तो बड़ी ही भद्दी और डरावनी सूरतका था। महात्मा गांधीको ही ले लो, कौन बड़ी सुन्दरता उनपर बरसती थी। इस प्रकार उनकी झेंप मिटाकर उनसे सहानुभूतिमय व्यवहार रखना चाहिए, उनके गुण देखते ही चिढ़ानेवालोंके आगे उनकी प्रशंसा करनी चाहिए, जिससे वे अपने व्यवहारसे स्वयं लज्जित हों और चिढ़ाना छोड़ दें।

७—साधारण स्वास्थ्यवालोंको अधिक सशक्त बननेके लिये प्रोत्साहित करते रहना चाहिए।

८—विकलांग बालक वे होते हैं जो जलनेसे या किसी रोगके कारण काने, अंधे, लंगड़े, लूले, बूचे, नकटे, कुबड़े हो गए हों।

ऐसे बालकोंको छात्र बहुत चिढ़ाते हैं। ऐसे बालकोंको प्रोत्साहन देकर उनके गुणों का वर्णन ही सबके सामने करना चाहिए जिससे अन्य छात्र उनके गुणोंसे प्रभावित होकर चिढ़ाना छोड़ दें।

आचरणकी दृष्टिसे

१. व्यसनियोंके व्यसन छुड़ानेके दो उपाय हैं। या तो उनके व्यसनकी अति कर दी जाय अर्थात् चटोरेको इतना खिलाया जाय, इतना खिलाया जाय कि उसे अरुचि हो जाय अथवा उस व्यसनकी नियमतः विभिन्न अवसरोंपर ऐसी निन्दा या बुराई करते रहा जाय कि उसे स्वयं उसमें दोष दिखाई देने लगे और वह व्यसनसे मुँह मोड़ ले। उसके सम्मुख ऐसे उदाहरण रखनेका भी फल अच्छा होता है जिनमें व्यसनियोंका बड़ा करुण और भयानक अन्त दिखाया गया हो—जैसे अमुक सिगरेट पीनेसे जल मरा, अमुक बहुत चाट खानेसे हैजेका शिकार हो गया, अमुक पढ़ते-पढ़ते पागल हो गया आदि।

२. कामचोर छात्रोंके साथ स्वयं काम करना चाहिए और बौद्धिक काम करानेसे पहले इनसे शारीरिक परिश्रम कराना चाहिए।

३. भगोड़ोंके पीछे अपने जासूस लगा रखने चाहिएँ जो उनकी गतिविधिका पूरा ब्यौरा दें और फिर सबके सामने उनका रहस्योद्घाटन हो। कभी-कभी भयसे भी छात्र भगोड़ होते हैं। उनका भय दूर कर देना चाहिए। उनसे मित्रवत् व्यवहार करके उनकी कठिनाई दूर करनेका प्रयत्न करते रहना चाहिए।

४. निश्चिन्त लड़कोंका भार ऐसे नियमित छात्रोंपर दे देना चाहिए जो उन्हें अपने साथ लावें, ले जावें और अपने ही साथ स्कूलका काम भी करा लें।

५. लोभी लड़कोंका सुधार तब हो सकता है जब उनके लोभ-युक्त व्यवहारकी समय-समयपर सबके सामने विनोदपूर्ण टिप्पणी की जाय, पर वह टिप्पणी निन्दाका रूप न धारण कर ले। उन्हें

उदार छात्रोंके संसर्गमें रक्खा जाय जहाँ वे स्वयं अपना दोष समझ-कर अपना चरित्र सुधार लें।

६. कंजूस लड़के आगे चलकर मक्खीचूस और समाजके लिये घातक सिद्ध होते हैं। इनका उपाय यह है कि उनके समक्ष उदार छात्रोंकी प्रशंसा और कंजूसोंकी निन्दा की जाय। कभी-कभी कंजूसी का कारण अर्थहीनता भी होती है, इसका भी विचार कर लेना चाहिए।

७. सदा असन्तुष्ट रहनेवाले छात्रोंको सुधारनेका सीधा उपाय यही है कि उनके थोड़े भी गुणोंकी प्रशंसा करते रहा जाय, तब वे सन्तुष्ट हो जायँगे।

८. ईर्ष्यालु छात्रोंकी ईर्ष्याको स्पर्द्धाके रूपमें बदल देना चाहिए जिससे वे अच्छे छात्रोंसे आगे बढ़नेका प्रयत्न करें, ईर्ष्या न करें। उन्हें उत्साहित करते रहनेसे ही यह फल प्राप्त हो सकता है।

९. अहङ्कार मानव-मात्रका शत्रु है। इसे जैसे बने वैसे हटाना चाहिए। भगवान् विष्णुने अपने भक्त नारदजीका अहङ्कार दूर करनेके लिये उनकी दुर्गति करा डाली थी, बन्दरका रूप बना दिया था। अतः छात्रोंका अहङ्कार अवश्य निकाल देना चाहिए और इसका सरल उपाय यह है कि यदि वह अपनेको बड़ा चतुर समझता हो तो उससे ऐसे कड़े प्रश्न किए जायँ कि वह उत्तर न दे सके, बस वह स्वयं लज्जित हो जायगा और उसका अहङ्कार गल जायगा। इसी प्रकार उसके अन्य प्रकारके अहङ्कारोंका भी परिहार किया जा सकता है।

१०. साहसी छात्र कभी-कभी दुःसाहसके काम भी कर बैठते हैं। मनोवैज्ञानिकोंका कहना है कि यदि ऐसे छात्रोंको सत्साहसकी ओर प्रवृत्त नहीं किया जाता तो ये आगे चलकर डाकू, चोर या ठग हो जाते हैं। अतः ऐसे छात्रोंको सत्साहसके कामोंमें प्रवृत्त कराना और दुःसाहसके कामोंसे निवृत्त कराना चाहिए। ऐसे छात्रोंको सेवाके कामोंमें अधिक लगाना चाहिए।

११. दुखी छात्रोंका उद्धार तो उनकी स्थिति जानकर उनकी सहायता करने या करानेसे हीं हो सकती है। बहुतसे छात्र ऐसे होते हैं जो अपना दुःख कहते हुए सकुचाते हैं। उनका विश्वासपात्र बनकर उनके दुःखका कारण जानकर उनके दुःख दूर करनेका उपाय करना चाहिए। दुःख दूर होनेपर उनकी पाठ-सम्बन्धी समस्याएँ स्वतः सुलझ जायँगी।

१२. दुर्ललित छात्रोंको माता-पितासे अलग करके थोड़े दिन छात्रावासमें रख दो, बस उनकी बुद्धि ठिकाने आ जायगी। घरसे दूर रखना ही उनकी परमौषधि है।

१३. कुसङ्गमें पड़े हुए छात्रोंको अपने साथ रखना सबसे अच्छा है। यदि छः महीनेके लिये भी कुसङ्ग छूटा तो समझ लो सदाके लिये छूट गया।

१४. स्वाभाविक अपराधियोंका काम बड़ा टेढ़ा है। उनके साथ बड़े कौशलसे व्यवहार करना चाहिए। उनको किसी न किसी दायित्वका काम देनेसे—मानीटर, कैप्टेन आदि बना देनेसे बड़ा काम निकलता है। चोर लड़कोंको पैसे रुपयोंका प्रबन्ध देनेसे उनकी चोरीका अभ्यास दूर हो जाता है। ऐसे बालकोंका मनोवैज्ञानिक अध्ययन भी करना चाहिए और मूल दोष पाकर उसका उपाय भी करना चाहिए।

१५. अनियमित छात्रोंको नियमित करनेका सरल उपाय यही है कि उनका भार नियमित छात्रोंपर छोड़ दिया जाय, वे स्वतः नियमित हो जायँगे।

अन्य प्रयोग भी सम्भव

इस प्रकार हमने प्रसिद्ध शिक्षा-शास्त्रियों, अनुभवी अध्यापकों तथा इस सम्बन्धकी पुस्तकोंसे पाठशालामें आनेवाले छात्रोंके व्यवहारका ब्यौरा दिया है किन्तु ये कोई

परिमित उपाय नहीं हैं। कुशल अध्यापक अपनी बुद्धि, विवेक और कौशलसे छात्र, अपराध और परिस्थितियोंको दृष्टिमें रखकर और भी उपायोंका सफलतापूर्वक प्रयोग कर सकता है।

एक उदाहरण—

एक योरपीय मुख्याध्यापकने एक दुष्ट छात्रको सुधारनेके लिये एक बड़ा विचित्र दण्ड खोज निकाला था। उसके विद्यालयमें एक ऐसा पाजी छात्र था जिससे स्कूलके अध्यापक, छात्र, अभिभावक, अड़ोसी-पड़ोसी और माता-पिता सब तंग आ गए थे। मार-पुचकार-के सब अस्त्र उसपर असफल रहे। एक दिन मुख्याध्यापकने स्कूल-के सब छात्रों और अध्यापकोंको स्कूलके मैदानमें एकत्र किया। एक बेंत वहाँ पहलेसे रक्खी हुई थी। सबके आ चुकनेपर उस दुष्ट छात्रको सामने बुलाया गया। वह अकड़ता हुआ सामने आ पहुँचा। सब लोग यही समझते रहे कि आज इस लड़केकी भरपूर मरम्मत होगी। पर सबको यह देखकर बड़ा आश्चर्य हुआ कि मुख्याध्यापकने अपनी बेंत उसे पकड़ा दी और अपना हाथ फैलाकर उससे कहा—आजतक मैंने तुम्हें बेंतें लगाई थीं, आज तुम मुझे बेंतें लगाओ क्योंकि मैं तुम्हें सुधारनेमें असफल सिद्ध हो गया हूँ। यह सुनते ही उस लड़केकी आँखोंमें आँसू आ गए, वह मुख्याध्यापकके पैरोंपर गिर पड़ा और प्रतिज्ञा की कि आजसे मैं कभी कोई अपराध नहीं करूँगा और अपना आचरण ठीक रक्खूँगा। आगे चलकर वह पाजी छात्र उस प्रदेशका प्रान्तपति और न्यायप्रिय नेता हुआ। किन्तु ऐसे अवसर असाधारण हैं और इसीलिये रेखा खींचकर, दावेके साथ यह नहीं कहा जा सकता कि बस सुधारनेके ये ही उपाय हैं, अन्य नहीं।

शरीर-संस्कार (फ़िज़िकल कल्चर) और व्यवस्थित खेल

शरीर-संस्कार या शारीरिक शिक्षाका उद्देश्य यह है कि

छात्रोंसे इस प्रकारके व्यायाम कराए जायँ कि उनका शरीर स्वस्थ रहे और उनके शारीरिक दोष तथा शरीरकी दुर्बलताएँ दूर हों। शरीर-संस्कार इसका प्रधान उद्देश्य है, मनोविनोद गौण। हमारे यहाँ तो कहा भी गया है—

व्यायामपुष्टगात्रस्य बुद्धिस्तेजो यशोबलम्।
प्रवर्द्धन्ते मनुष्यस्य तस्माद्व्यायाममाचरेत्॥

[व्यायामसे जिसका शरीर पुष्ट हो जाता है उसकी बुद्धि, उसका तेज और बल बढ़ जाता है अतः व्यायाम अवश्य करना चाहिए।]

सत्येन ब्रह्मचर्येण व्यायामेनाऽथ विद्यया।
देशभक्त्यात्मत्यागेन संमानार्हः सदा भव॥

[सत्य व्यवहार, ब्रह्मचर्य, व्यायाम, विद्या, देशभक्ति तथा आत्मत्यागसे सदा सम्मान प्राप्त करो।]

बालकका स्वास्थ्य

छात्रोंके स्वास्थ्य-रक्षणपर दो दृष्टियोंसे विचार किया जाता है—एक तो उनके शरीरकी प्रकृति और दूसरे शरीर संवर्द्धनके नियम। इस बातका ध्यान सदा रखना चाहिए कि बालकका शरीर कितना श्रम सहन कर सकता है और उसके स्वाभाविक संवर्द्धनके लिये कितना श्रम तथा उपचार आवश्यक है। वैज्ञानिकोंने बालकोंकी शारीरिक उन्नति, रोग तथा असाधारणताओंका तो अध्ययन किया ही है साथ ही ज्ञानेन्द्रियों (कान, आँख, नाक, मुँह) में उत्पन्न दोषों तथा वर्षकी विभिन्न ऋतुओंमें उत्पन्न होनेवाले रोगोंकी जाँच करने, समझने और दूर करनेके विधान भी बताए हैं और यह भी बताया है कि इस प्रकारके रोग और दोष छात्रोंके अध्ययनमें किस प्रकार बाधक होते हैं। इसके लिये निरन्तर प्रतिमास स्वास्थ्य-परीक्षण करना चाहिए और छात्रोंके अभिभावकों तथा

म्युनिसिपिल और डिस्ट्रिक्ट बोर्डोंके स्वास्थ्य विभागसे सहायता लेनी रहनी चाहिए। यह अत्यन्त खेदकी बात है कि हमारे भारतीय विद्यालयोंमें केवल स्वास्थ्यकी उपेक्षा ही नहीं की जाती है वरन् स्वास्थ्य नष्ट करनेके लिये नियमित आयोजन भी किए जाते हैं जैसे—भोजन करके आए हुए छात्रोंसे व्यायाम, वर्षा ऋतुकी धूपमें व्यायाम कराना; सभा-भवनोंमें गर्मीके दिनोंमें छात्रोंको अधिक देरतक रोक रखना; सभाभवनोंके द्वार बन्द करके छात्रोंको चल-चित्र दिखाना; खेलके पश्चात् बरफ़ या ठंडा पानी पिलाना आदि।

अध्यापकोंका स्वास्थ्य

पिछले दस वर्षोंसे अमेरिका, रूस, जापान और इँगलैण्डमें विद्यालयोंके स्वास्थ्यके अन्तर्गत अध्यापकोंके स्वास्थ्यपर भी विचार होने लगा है। अनेक विद्यालयोंके अध्यापकोंके स्वास्थ्य-परीक्षण करनेपर यह परिणाम निकाला गया है कि अधिकांश अध्यापक अधिक बक-बक करनेके कारण निम्नलिखित रोगोंसे आक्रान्त हैं—

१—श्वास रोग।

२—गलेकी सरसराहट या कास।

३—टौन्सिल या कंठ-ग्रन्थिका फूलना।

४—थकावट।

५—ज़ुकाम।

इसका कारण यह है कि अध्यापकोंकी अध्यापन-दिनचर्या ऐसी दोषपूर्ण हो गई है जिसमें निरन्तर कई घंटे उन्हें बोलना पड़ जाता है। चाहिए यह कि उनका अध्यापन-क्रम इस प्रकार रक्खा जाय कि यदि एक घंटे उन्हें बोलकर पढ़ाना हो तो दूसरे घंटेमें उन्हें लेखन-कार्य करना पड़े। इस जाँच समिति ने यह भी विचार प्रस्तुत किया है कि अध्यापकोंको तीन या चार घंटे पढ़ानेके पश्चात्

ठोस संजीवन जलपान देना चाहिए और यह प्रबन्ध विद्यालयकी ही ओरसे होना चाहिए।

शिक्षा-द्वारा स्वास्थ्य

उपर्युक्त विधानोंके अतिरिक्त छात्रों और अध्यापकोंको कुछ स्वच्छताके अभ्यास भी करने चाहिएँ जैसे—नियमसे स्नान करना, वस्त्र स्वच्छ रखना, कागज तथा कपड़े इधर-उधर न फेंकना, कूड़ा न करना, इधर-उधर न थूकना और लघुशंका न करना, मैले तौलिए या रूमालसे आँख न पोछना, कुछ भी खानेके पश्चात् भली प्रकार दाँत माजकर मुँह धोना, मुँहमें पेन्सिल या होल्डर न रखना, नख न चबाना आदि। इस कार्यमें अध्यापक सबसे अधिक सहायक हो सकते हैं यदि वे छात्रोंको निरन्तर टोकते और सुधारते रहें।

साधारण नियम

शारीरिक संस्कारके लिये प्रातःकाल सूर्योदयके समय अथवा तीसरे पहर प्रतिदिन केवल एक समय दससे पन्द्रह मिनट तक (अधिक नहीं) स्फूर्त्तिदायक शरीर-संचार (एजिलिटी एक्सरसाइज) कराना चाहिए। पहले स्वस्थ शरीरमें स्वस्थ मस्तिष्क (साउंड माइन्ड इन ए साउंड बौडी) का सिद्धान्त मान्य था किन्तु अब फुर्त्तीले शरीरमें व्यवहारशील मस्तिष्क (प्रैक्टिकल माइंड इन एन् एजाइल बौडी) का सिद्धान्त मान्य हो गया है। भोजनसे एक घंटा पहलेतक तथा तीन घंटे पीछेतक कोई शारीरिक व्यायाम, दौड़धूप या शारीरिक परिश्रम कराना साक्षात् मृत्युको निमन्त्रण देना है। बालकोंको निश्चित देखरेखमें उनके शरीरकी आवश्यकता और समर्थताके अनुरूप उनसे व्यायाम कराना चाहिए, यह नहीं कि आजकलके व्यायाम घंटे (ड्रिल पीरियड) के समान कक्षाके सब छात्रोंको समान रूपसे पैंतीस-चालीस मिनटतक दाएँ-बाएँ (राइट-लैफ्ट) में जोत दिया जाय। व्यायामके पश्चात्

जब रक्तसंचालनकी गति सुस्थिर हो जाय और पसीना सूख जाय तब गर्म दूध, हलवा या भिगोया हुआ चना अवश्य देना चाहिए और पीनेको गुनगुनाता पानी। ठंडा जल कभी नहीं देना चाहिए। सूखा व्यायाम भी शरीरका भयानक शत्रु है। इससे क्षय, श्वास तथा रक्तचापके रोग हो जाते हैं। इसलिये व्यायामके अनन्तर कुछ पोषक पदार्थ शरीरको मिलना ही चाहिए।

यदि प्रातःकाल व्यायाम कराना हो तो शैया त्यागते ही शौचके अनन्तर व्यायाम कराया जाय, उसके पश्चात् उष्णजलसे स्नान (ठंढेसे नहीं) और धीरे धीरे वस्त्र पहनने-बदलनेका अवकाश देना चाहिए। यदि संध्याको व्यायाम हो तो उस समय भी व्यायामके अनन्तर उष्ण जलसे स्नानके पश्चात् जलपान होना चाहिए। जहाँ व्यायाम कराया जाय वहाँका वायु स्वच्छ हो किन्तु अतिशीत न हो। अतिशीत वायुमें खुला व्यायाम अत्यन्त हानिकर होता है। उससे न्यूमोनिया होनेकी बहुत संभावना हो जाती है। अतः जाड़ेके दिनोंमें भीतर कमरेमें व्यायाम कराना चाहिए किन्तु व्यायाम कराकर तत्काल बाहर नहीं निकालना चाहिए। व्यायामके पश्चात् वस्त्र हल्के और ढीले पहनाने चाहिएँ। व्यायाममें शरीरके सब अंगोंको समान श्रम मिलना चाहिए; इसलिये क्रमशः शरीरके सब अंगोंके संवर्द्धन और संस्कारके लिये व्यायाम होना ही चाहिए।

शारीरिक संस्कारके अंग

शरीरसंस्कारके लिये विद्यालयमें निम्नलिखित व्यवस्थाएँ की जाती हैं—

१—साधारण व्यायाम जिसमें खेल और स्वास्थ्यके अभ्यास भी सम्मिलित हैं।

२—व्यवस्थित शारीरिक व्यायाम (मलखम्भ तथा ज़िमनास्टिक आदि)

३—व्यवस्थित खेलकूद (हौकी, फुटबौल, वौलीवौल, कबड्डी आदि)
४—उत्तर शारीरिक संस्कार (मल्लयुद्ध तथा अन्य विशेष शारीरिक व्यायाम)

आजकल दो प्रकारसे शारीरिक शिक्षाका विधान किया जा रहा है—एक तो बालकोंके साधारण शारीरिक विकासकी दृष्टिसे और दूसरे उनकी मानसिक स्वस्थताकी दृष्टिसे। हेथरिंग्टनने शारीरिक स्वस्थता बनाए रखने और शारीरिक संवर्द्धनके लिये यह कार्ययोजना बताई है। इसे व्यायामयोजना नहीं समझना चाहिए—

५ वर्षके बालकके लिये—चार घंटेकी स्नायुक्रिया (पुट्ठोंका संचालन या मस्कुलर एक्टिविटी)

७ से ९	,,	५ घंटे स्नायुक्रिया	१ घंटे	बौद्धिक क्रिया
९ से ११	,,	६ घंटे ,,	२ ,,	,,
११ से १३	,,	५ घंटे ,,	२ ,,	,,
१४ से १६	,,	४ घंटे ,,	३ ,,	,,
१६ से १८	,,	३ घंटे ,,	३ ,,	,,
१८ से २०	,,	२ घंटे ,,	४ ,,	,,
२० से ऊपर	,,	१ घंटे ,,	४ से ५ ,,	,,

किसी भी व्यक्तिको ५ घंटेसे अधिक बौद्धिक कार्य नहीं करना चाहिए और वह भी तब जब वह कमसे कम एक घंटे नियमित स्नायवीय व्यायाम (मस्कुलर एक्सरसाइज) करता हो। इतना व्यायाम न करनेवाला जो व्यक्ति बौद्धिक कार्य करता है वह स्वयं अपना काल बन रहा है। प्रत्येक बालकको भोजन करनेके पश्चात् कमसे कम आध घंटे विश्राम करनेका अवसर दिया जाय तो अन्न शरीरको लगे और उसका स्वास्थ्य बढ़े। आजकल हमारे विद्यालयोंमें जो शारीरिक ह्रास छात्रोंमें दिखाई पड़ रहा है, उसका एकमात्र कारण यह है कि भोजन करते ही छात्रको विद्यालय भागना पड़ता है।

१४

व्यवस्थित खेल

खेलका उद्देश्य

प्रायः अंग्रेजी ढंगके विद्यालयोंके साथ खेलनेके मैदान भी लगे रहते हैं जहाँ नियमित रूपसे, दल-क्रमसे सभी विद्यार्थी सप्ताहमें दो या तीन बार अंग्रेजी खेल खेल लेते हैं। ऐसी व्यवस्था प्रायः ग्रामीण विद्यालयोंमें नहीं है। इन खेलोंका उद्देश्य यह है कि बालकका स्वास्थ्य बढ़े, उसके शरीरमें फुर्ती आवे और वह बहुत लोगोंके साथ मिलकर, दल बनाकर पारस्परिक सहयोगकी भावना उत्पन्न कर सके। क्रिकेट, हौकी, फुटबौल, वौलीबौल, कबड्डी आदि खेल पारस्परिक सहयोगकी भावनाको पोषित करते हैं क्योंकि उनमें व्यक्तिगत स्वार्थको छोड़कर अपने दलके हितकी बात उत्पन्न होती है। सामाजिक जीवनके लिये सामूहिक हितकी भावना बड़ी सहायक सिद्ध होती है। इस प्रकारके खेलोंसे फुर्ती भी आती है और शरीरमें रक्त-प्रवाह गतिसे होता है। इस सामूहिक भावनाको पुष्ट करनेके लिये अध्यापकोंको,-विशेषतः आचार्यको, छात्रोंके साथ मिलकर खेलना चाहिए और अवसर-अवसरपर पारस्परिक व्यवहारकी शिक्षा देनी चाहिए। जो अध्यापक स्वयं खेल न सकते हों वे खेल खेलानेकी व्यवस्था ही करें और वह भी यदि न कर सकते हों तो दूसरे छात्रोंके द्वारा उसकी व्यवस्था कराकर स्वयं उसका निरीक्षण करें। कमसे कम आचार्योंको तो विभिन्न

खेलोंके नियम और उपनियम भली भाँति जानने चाहिएँ जिससे वे विद्यार्थियोंको खेलके व्यवहारकी शिक्षा दे सकें।

खेलका व्यवहार

खेलके व्यवहारका तात्पर्य यह है कि प्रत्येक खेलनेवालेको पूरे प्रयत्न और पूरी शक्तिके साथ अपने दलको विजयी कराना चाहिए किन्तु इस प्रयत्न और शक्तिके प्रयोगमें बेइमानी, उद्दंडता, उजड्डपन और बल-प्रयोग नहीं होना चाहिए। प्रत्येक खेलाड़ीको खेलमें कौशल दिखलाना चाहिए, न बल न छल, क्योंकि बल दिखाना उजड्डता और पशुताका लक्षण है और छल दिखाना धूर्तता, अन्याय और अनीतिका लक्षण है। जहाँ कहीं प्रतिद्वन्द्विता होती है वहाँ यही उपदेश दिया जाता है कि खेलाड़ीके समान आचरण करो इसका अर्थ यह है कि जितना कौशल हो वह अवश्य दिखलाओ किन्तु उसमें अनीति और असत्यताका अंश न हो। सच्चा खेलाड़ी कभी जान-बूझकर अपने प्रतिद्वन्द्वीको चोट नहीं पहुँचाता। यदि भूलसे चोट लग भी जाय तो वह क्षमा माँग लेता है। यदि दूसरा भी कोई चोट मार दे तो वह—"कोई चिन्ता नहीं, कोई बात नहीं"—कहकर मुस्करा देता है, प्रतिहिंसाकी भावना मनमें नहीं आने देता है, खेलके नियन्ताका कभी विरोध नहीं करता है और हार जानेपर अपने प्रतिपक्षियों या नियन्तापर बेइमानी करने या पक्षपात करनेका आरोप नहीं करता, सदा मस्त और प्रसन्न रहता है, हार और जीत—दोनोंमें समःभाव रखता है। वह सच्चा खेलाड़ी (ट्रू स्पोर्ट्समैन) है और यही भावना सच्ची खेलाड़ीकी भावना (ट्रू स्पोर्ट्समैन्स स्पिरिट) कहलाती है। जो दल स्वयं जीतकर दूसरेकी खिल्ली उड़ाते हैं या अपना हर्ष या उल्लास प्रकट करते हैं और हारकर रोनी सूरत बना लेते हैं या प्रतिपक्षियोंके साथ गाली-गलौज और लड़ाई-झगड़ा करते हैं, वे खेलाड़ी नहीं हैं।

खेलके मैदानकी महत्ता यही है कि वहाँसे विद्यार्थी सच्चे खेलाड़ी बनकर निकलें जो किसी भी अवस्थामें न तो विचलित हों न अपना शील छोड़ें।

घरेलू खेल

इन खेलोंके अतिरिक्त ऐसे घरेलू खेलोंकी व्यवस्था की जानी चाहिए जिनमें विद्यार्थियोंकी कल्पना-शक्ति, विचार-शक्ति और निर्णय-शक्ति बढ़े और साथ ही शरीरके कुछ अंगोंकी क्रिया-शक्ति भी बढ़ती चले। शतरंज, कैरम, टेबिल-टैनिस आदि खेल बहुतसे भारतीय और यूरोपीय देशोंके विद्यालयोंमें छात्रोंके लिये रक्खे जाते हैं किन्तु हमारा देश एक तो यों ही दीन है और फिर हमारे देशके बालकोंको ऐसे अभ्यास नहीं डालने चाहिएँ कि वे आगे चलकर उनके लिये अभिशाप बन जायँ। गाँवोंके विद्यालयोंमें छात्रगण गेंद-टोरा, गुल्ली-डंडा, काई-डंडा, आँख-मिचौनी, अथवा चढ्ढा-चढ्ढीका खेल खेलते हैं। इस प्रकारके देशी खेलोंका प्रचार करना चाहिए, क्योंकि एक तो ये व्ययसाध्य नहीं हैं, दूसरे ये शुद्ध भारतीय हैं, तीसरे हमारे गाँवोंकी प्रकृतिमें ठीक बैठते हैं और चौथे इनमें छात्रोंका शारीरिक और मानसिक व्यायाम भी हो जाता है। इन सब खेलों और व्यायामोंके पश्चात् छात्रोंके लिये गोदुग्धकी व्यवस्था करनी चाहिए तभी खेलसे लाभ होगा। आजकल खेलके पश्चात् बरफ खाने या सोडावाटर पीनेकी जो प्रथा चली है वह अत्यन्त अस्वास्थ्यकर है और उसका प्रयोग बन्द होना चाहिए।

यूरोपमें खेलका महत्त्व

यूरोपीय शिक्षा-शास्त्रियोंने खेलोंको बड़ा महत्त्व दिया है। उनका विश्वास है कि यदि बालकोंके खेलोंकी ठीक व्यवस्था हो तो

वे आगे चलकर बड़े कुशल योद्धा, समाज-सेवी, सेना-नायक और नेता बन सकते हैं।

प्राणायाम

इन सब खेलोंके साथ-साथ छात्रोंको प्राणायामका अभ्यास कराना चाहिए। शरीरके व्यायामसे बढ़कर प्राणोंका व्यायाम है। प्राणायामसे मनकी एकाग्रता होती है, फेफड़े स्वच्छ रहते हैं, रक्तका प्रवाह शुद्ध हो जाता है, शरीरमें स्फूर्ति आती है, मनमें उल्लास आता है, बुद्धि खुल जाती है और अनेक प्रकारके रोग पासमें नहीं फटकते। किन्तु यह प्राणायामकी क्रिया विद्यालय-के कार्य-क्रममें नहीं रख देनी चाहिए। ऐसी व्यवस्था करनी चाहिए कि छात्र ब्राह्म-मुहूर्त्तमें उठें और किसी कुशल अध्यापकके द्वारा प्राणायामकी क्रिया सीखें और नियमित रूपसे ब्रह्मचर्य-व्रतके साथ प्राणायामका अभ्यास करें। अभीतक हमारे शिक्षा-शास्त्रियोंने प्राणायामका कोई महत्त्व नहीं समझा है किन्तु शरीर-के स्वास्थ्य, स्फूर्ति, स्मृति और चिर जीवनके लिये इससे बढ़कर दूसरा उपाय नहीं है। गाँवके विद्यालयोंमें तो बड़ी सरलतासे इसकी व्यवस्था की जा सकती है। जहाँ एक ओर दलभावना उन्नत करनेके लिये मैदानके खेलोंकी व्यवस्था की जाती है वहाँ व्यक्तिगत स्वास्थ्य और आयुष्यके लिये प्राणायामकी व्यवस्था भी होनी चाहिए।

द्वन्द्वखेल तथा खेल-प्रतियोगिता

अपने बालकोंकी दल-हित-भावना तथा खेल-कौशलकी परीक्षाके लिये दूसरे विद्यालयोंके साथ द्वन्द्व-खेल खेलने चाहिएँ, उन्हींसे खेलनेके कौशल तथा वास्तविक खेलाड़ीके आचरण-की परीक्षा हो जाती है। प्रायः ऐसे द्वन्द्व-खेलोंमें खेलाड़ी आपेसे

बाहर हो जाते हैं और समझते हैं कि इस द्वन्द्व-खेलका पुरस्कार ही हमारा परम ध्येय है; किन्तु आचार्यों तथा अध्यापकोंको अपने आदेश तथा उपदेशसे अपने छात्रोंको समझा देना चाहिए कि यह तुम्हारे खेल-कौशलकी ही परीक्षा नहीं है प्रत्युत तुम्हारे सौजन्य, शील और सहनशीलताकी भी परीक्षा है। खेलमें हारनेसे केवल पुरस्कारकी हानि होती है किन्तु शील, सौजन्य और सहनशीलतामें हार जानेसे चरित्र और मर्यादाकी हानि होती है जो सबसे महँगी और महत्त्वपूर्ण है। अतः ऐसे परीक्षाके अवसर उपस्थित करके छात्रोंको आचरणका अभ्यास कराना चाहिए।

खेल-पर्व

इन व्यवस्थित खेलोंके अतिरिक्त वर्षमें एक या दो बार खेल-दिवस या खेल-सप्ताहका भी आयोजन करना चाहिए जिसमें दौड़-कूद, रस्सा-खिंचाई, बाधा-दौड़ तथा अन्य अनेक प्रकारके ऐसे खेलोंका आयोजन हुआ करे जिनमें विद्यार्थियोंके शारीरिक सामर्थ्यका परीक्षण भी होता चले, अभ्यास भी होता चले और दर्शक-छात्रोंको प्रेरणा भी मिलती चले। ऐसे सब खेलोंमें बाहरके छात्र और अध्यापक भी बुलाने चाहिएँ, जिससे छात्रोंको स्वागत-सत्कार, सेवा तथा भोजनादिका प्रबन्ध करनेकी शिक्षा भी मिलती चले। ऐसे ही अवसरोंपर विद्यालयकी भावना अर्थात् हमारा विद्यालय विजयी हो, हमारे विद्यालयको पुरस्कार मिले, हमारे विद्यालयका छात्र प्रथम आवे, इस पारिवारिक या कौटुम्बिक आत्मीयताकी भावना भी बढ़ती है अतः ऐसे अवसर जितने ही अधिक होंगे उतनी ही अधिक वास्तविक शिक्षा छात्रोंको प्राप्त होगी और वे आगे चलकर अधिक सभ्य, अधिक उदार और अधिक कुशल नागरिक हो सकेंगे।

अन्य व्यायाम तथा अभ्यास

दल-हितकी भावना या विद्यालय-हित-भावनाको पुष्ट करने वाले कुछ और भी कार्य हैं जो विद्यालयोंमें प्रयुक्त किए जा सकते हैं। सामूहिक संचरण, सामूहिक व्यायाम, विभिन्न कक्षाओं अथवा पूरे विद्यालयके विद्यार्थियोंका एक आदेशके अनुसार चलना, उठना, खड़े होना, अंग-संचालन और पैर मिलाकर पंक्ति-बद्ध चलना आदि कुछ ऐसे विधान हैं जिनसे विद्यालयमें एकता, आत्मीयता, बंधुत्व, संबद्धताका भाव उत्पन्न कराया जा सकता है। एक साथ हिलते हुए हाथ, एक साथ चलते हुए पैर अथवा एक साथ ऊपर-नीचे उठते हुए शरीर ऐसे जान पड़ते हैं मानों सबका एक ही शरीर हो, एक ही आत्मा हो, एक ही इच्छा हो और एक ही मानसिक अभिव्यक्ति हो। राष्ट्रीयताकी भावना ऐसे ही अभ्यासोंसे आती है। अपने स्वत्वका, अपने विद्यालयका, अपने जातिका अभिमान इसी प्रकार उत्पन्न होता है, अपने विद्यालयका मान-अपमान अपना मान-अपमान समझा जाता है, अपने विद्यालयके अध्यापक या छात्रका यश-अपयश अपना समझा जाता है। मेधातिथिने जो कहा है कि छात्र अनुशिष्ट होना चाहिए, वह इसी प्रकारके अभ्यासोंसे हो सकता है, उसके लिये धर्मोपदेश या आदेश देनेकी आवश्यकता नहीं है। इस युगके विश्वप्रसिद्ध शिक्षाशास्त्री महामना पंडित मदनमोहन मालवीयजीका यह उपदेश छात्रोंको सदा स्मरण रखना चाहिए—

दूध पियो, कसरत करो, नित्य जपो हरिनाम।
मन लगाइ विद्या पढ़ो, पूरेंगे सब काम॥

१५

पाठ्यक्रमातिरिक्त प्रवृत्तियाँ

शिक्षाका आधार

किसी भी देशमें शिक्षाका आधार केवल पाठ्य-पुस्तक या विद्यालयका पाठ्य-क्रम मात्र नहीं है। विद्यालयके पाठ्य-क्रमको तो केवल गौण आधार मात्र माना जाता है। विद्यार्थीकी वास्तविक शिक्षाके लिये ऐसे अवसरोंकी सृष्टि करनी चाहिए जिनमें विद्यार्थी अपनी मानसिक और नैतिक रुचि तथा प्रवृत्तिका विकास कर सकें। शिक्षा-शास्त्रियोंका यह विचार है कि इस प्रकारकी नैतिक और सामाजिक शिक्षाके लिये ऐसे सामूहिक समारोहोंका विधान किया जाय जिसमें अधिकसे अधिक विद्यार्थी रुचिपूर्वक सक्रिय योग दे सकें। ऐसे कार्य छः श्रेणियोंमें विभक्त किए जा सकते हैं—

१. सेवा-भाव उत्पन्न करनेवाले।

२. सहयोगका भाव भरनेवाले।

३. मानसिक और बौद्धिक शक्ति बढ़ानेवाले।

४. सभा-चातुर्य सिखानेवाले।

५. प्रबंध-योग्यताकी शिक्षा देनेवाले।

६. स्फूर्ति तथा कर्मठता उत्पन्न करनेवाले।

इन सबकी व्याख्या विस्तारसे नीचे की जाती है—

व्यक्तिगत सेवाका भाव

हमारे व्यक्तिगत और सामूहिक जीवनमें कुछ ऐसे इने-गिने अवसर हैं जिनमें प्रत्येक व्यक्ति किसी न किसी प्रकारसे सेवा

कर सकता है। व्यक्तिगत सेवाके अंतर्गत अपने सहपाठी रोगीकी सेव-सुश्रूषा करना, किसी भूले हुएको मार्ग बताना, दुष्टोंके द्वारा किसीको पीड़ित अथवा अपहृत देखकर उसकी रक्षा करना, प्यासेको पानी पिलाना, जिसे मार्गमें चोट लग गई हो उसे चिकित्सालय तक पहुँचाना, किसी दुर्बल या रोगी व्यक्तिके लिये भीड़में घुसकर रेलका टिकट ला देना आदि ऐसे कार्य हैं जो साधारण व्यक्तिगत सेवाके अन्तर्गत आते हैं। इनमेंसे कुछ तो ऐसे हैं जो विद्यालयकी सीमाके बाहर हैं। किन्तु आचार्यों-द्वारा छात्रोंको ऐसे अवसर दिए जा सकते हैं कि वे मेले-ठेलोंमें सेवाके लिये जाकर अपने भीतर सेवा और परोपकारकी भावना दृढ़ कर सकें। किन्तु विद्यालयमें भी ये सेवाए अनेक प्रकारसे की जा सकती हैं। अपनेसे छोटी कक्षाके छात्रोंको शिक्षा देकर, अपने अध्यापकोंकी सेवा करके, छात्रावासके भवनों और कमरोंको शुद्ध करके तथा इस प्रकारके अनेक कार्योंकी योजनाके द्वारा सेवाके भावका संवर्द्धन किया जा सकता है। दुष्ट लड़कोंसे दुबले और लजीले बालकोंकी रक्षा करना भी बहुत बड़ी सेवाका काम है। आचार्योंको चाहिए कि अच्छे लड़कोंका ऐसा दल बनावें जो दुष्ट लड़कोंसे छोटे बालकोंकी रक्षा करता रहे। सेवाके विषयमें एक सिद्धान्त सदा स्मरण रखना चाहिए कि सेवा या तो असमर्थकी करनी चाहिए या बड़ोंकी करनी चाहिए। ऐसा न हो कि सेवा लेनेके बहाने विद्यार्थियोंको नौकरकी श्रेणीतक पहुँचा दिया जाय।

सामूहिक सेवा

सामूहिक सेवाके लिये छात्रोंके दल बनाकर गाँवोंमें शिक्षा-प्रचारके लिये, स्वच्छताके लिये, रोगके दिनोंमें रोगियोंकी परिचर्या करने तथा औषध बाँटनेके लिये, सामूहिक उत्सवों तथा मेलों में भीड़-नियंत्रण तथा अन्य प्रकारकी सेवाओंके लिये भेजना चाहिए

और उनके साथ सदा नियमित रूपसे ऐसा अध्यापक रखना चाहिए जो इस विषयकी सब बातें भली भाँति जानता हो। प्रायः सभी विद्यालयोंमें इस सेवाभावनाको समृद्ध करनेके लिये बालचर (स्काउटिंग) संस्थाका प्रचार किया जा रहा है किन्तु बहुत स्थानों-पर ये संस्थाएँ केवल खेल-कूदकी समितियाँ भर रह गई हैं, इनका वास्तविक उद्देश्य सफल करनेके लिये इन्हें अधिक सक्रिय और उपादेय बनाना चाहिए।

स्वशासन या सहयोगिताका भाव

हमारे संपूर्ण सामाजिक जीवनके लिये सहयोगिताका भाव अत्यन्त अपेक्षित है। शिक्षा-शास्त्रियोंने यह बताया भी है कि शिक्षाका उद्देश्य चतुर नागरिक बनाना है। उस सहयोगिताके भावके लिये विद्यालयमें स्वशासनकी व्यवस्था होनी चाहिए। छात्रावास, भोजनालय, विद्यालयकी शुद्धता, उत्सव आदिके प्रबंधका काम सब विद्यार्थियों-पर ही छोड़ देना चाहिए। जैसे नगरपालिका (म्युनिसिपिल बोर्ड) में स्वास्थ्यका, शिक्षाका, निर्माणका कार्य-विभाजन हो जाता है और अलग अलग समितियाँ बन जाती हैं वैसे ही विद्यालयमें भी विभिन्न प्रवृत्तियोंके लिये समितियाँ बना लेनी चाहिए।

भोजन-समिति

एक भोजन-समिति बने, जिसके छात्र-सदस्य निरन्तर यह देखते रहें कि छात्रोंको ठीक समयपर स्वस्थ भोजन मिले, जलका ठीक प्रबन्ध हो, शुद्धताके साथ ऐसे स्थानपर ऐसे पात्रोंमें जल रक्खा जाय कि वह ठंढा रहे, उसमें कोई हाथ न लगा सके, अवकाशके समय बारी-बारीसे विद्यार्थी ही जल पिलावें और छात्रोंके ही द्वारा उसकी ऐसी व्यवस्था कराई जाय कि न तो जलमें बाहरसे कुछ गिर सके और न पानी

बासी पड़ा रहे। कभी-कभी बाहरसे विभिन्न प्रकारकी मिठाई, अन्य खाद्य-वस्तु तथा बर्फ़ आदि बेचनेवाले लोग आकर छात्रोंको बहुत सी ऐसी वस्तु दे जाते हैं जिससे स्वास्थ्य बिगड़नेकी आशंका रहती है। बर्फ़ तो बालकोंका सबसे बड़ा शत्रु है किन्तु वह सभी नागरिक विद्यालयोंके द्वारपर प्राप्त हो रहा है। इन सबको दूर रखनेकी व्यवस्थाके लिये छात्रोंकी ओरसे प्रबन्ध होना चाहिए अथवा जैसा दक्षिणके कुछ विद्यालयोंमें है वैसा प्रबन्ध करना चाहिए कि विद्यार्थियोंकी पंचायतकी ओरसे प्रत्येक विद्यालयमें विद्यालयके छात्रोंकी प्रकृतिके अनुसार छोटी जलपान-शालाएँ स्थापित हो जायँ जिनका प्रबन्ध किसी अध्यापककी देखरेखमें विद्यार्थी ही करें और उससे जो लाभ हो वह दीन छात्रोंकी सहायतामें लगाया जाय।

स्वास्थ्य-समिति

इसी प्रकार विद्यालयकी स्वास्थ्य-समितिका काम भी यह हो कि विद्यालयके भवन, कक्षाएँ, आस-पासकी भूमि, शौचालय, मूत्रालय कुआँ, तालाब आदि स्थान अत्यंत शुद्ध तथा सुन्दर रहें। इससे विद्यालयकी शोभा तो बढ़ेगी ही, साथ ही छात्रोंमें सहयोगिताका भाव, स्वच्छताका भाव और स्वच्छ वातावरणका प्रभाव भी बढ़ेगा। इसी प्रकार शिक्षा-समितिके द्वारा उन छात्रोंको शिक्षा देनेकी व्यवस्था की जा सकती है जो मंद-बुद्धि हों या रोगके कारण कक्षामें पिछड़ गए हों। इस समितिके द्वारा ही शिक्षा-संबंधी चल-चित्र दिखानेका भी आयोजन किया जा सकता है।

छात्र-न्यायालय

कुछ शिक्षाचार्योंका यह विचार है कि प्रत्येक विद्यालयमें छात्रोंका ही एक न्यायालय होना चाहिए जिसमें छात्रोंके प्रतिनिधियोंका ऐसा पंच हो जो छात्रोंके नैतिक तथा नियम-

सम्बन्धी अभियोगोंका निर्णय किया करें। एक विद्यालयके ऐसे न्यायालयमें तो अध्यापक-गण भी उन अभियुक्तोंको भेज देते हैं जिन्होंने विद्यालयका नियम तोड़ा हो या शील तथा आचार-सम्बन्धी कोई दोष किया हो। इन सब प्रकारकी समितियोंसे सहयोगिता तथा उत्तरदायित्वका भाव उत्पन्न हो सकता है।

दीन-छात्र-संघ

बहुतसे विद्यालयोंमें दीन छात्रोंकी सहायताके लिये विद्यार्थी-सहायक-संघोंकी स्थापना हुई है। इन संघोंके द्वारा दीन छात्रोंको शुल्क, पुस्तक आदि देकर सहायता की जाती है। प्रायः छात्रोंकी वास्तविक दशा छात्र ही जानते हैं। इसलिये यदि वे इस प्रकारकी सहायताका प्रबंध करेंगे तो वास्तविक दीनोंको सहायता मिल सकेगी और उस सबका अस्तित्व सफल हो सकेगा किन्तु उसका नाम दीन कोश (पुअर फंड) न रखकर छात्र-संघ होना चाहिए जिससे सहायता लेनेवाले छात्रके आत्म-सम्मान की भी रक्षा हो।

मानसिक और बौद्धिक विकासके साधन

योरोपीय विद्यालयोंमें ऐसी व्यवस्था है कि वहाँके आचार्य बारी-बारीसे प्रत्येक छुट्टीके दिन विद्यार्थियोंको इधर-उधर घुमाने ले जाते हैं और इस पर्यटनमें विद्यार्थि-गण पर्यटनकी सुविधा और असुविधाओंका अनुभव तो प्राप्त करते ही हैं, साथ ही वे वन, उपवन, नदी-तट, समुद्र-तट, पुल, रेलगाड़ी, पुतलीघर, यंत्र-शाला, नये विद्यालय, प्रदर्शनी, कौतुकालय, जीवशाला, पुस्तकालय, भवन आदि प्राकृतिक तथा मानव-निर्मित वैभवोंका भी प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त करते हैं। शिक्षा-शास्त्रियोंका मत है कि एक वर्षमें पुस्तकोंके सहारे जितना पढ़ाया जाता है उतना एक दिनके पर्यटनमें सिखाया जा सकता है और इसमें संदेह भी नहीं, क्योंकि नई वस्तुओंके परिचयके समय अध्यापक तत्संबंधी प्रत्येक ज्ञान स्वाभा-

विक रूपमें दे सकता है और प्रत्यक्ष अनुभव होनेसे वह ज्ञान पक्का भी होता चलता है। यद्यपि हमारा देश बहुत धनी नहीं है और दूर-दूरकी यात्राएँ हमारे लिये संभव भी नहीं हैं किन्तु फिर भी आसपासके नगरों, गाँवों, पर्वतों और प्राकृतिक स्थानों-का परिचय तो हम लोग करा ही सकते हैं। किन्तु इस पर्यटनमें केवल भोजन-पानी, सैर-सपाटे, खेल-कूद और गप-सड़ाके-की ही योजना न हो वरन् भली प्रकारसे उस स्थानके संबंधसे सिखाए जानेवाले संभव विषयोंके शिक्षणकी ऐसी व्यवस्था हो कि छात्र स्वयं उत्सुकतापूर्वक उन स्थानोंके विषयमें जाननेको लालायित हों और यदि उनकी उत्सुकता उद्दीप्त न हो तो अध्यापक स्वयं उन्हें ज्ञान देनेमें प्रवृत्त हो।

साहित्य-गोष्ठी

इस भ्रमण या पर्यटनके अतिरिक्त मानसिक और बौद्धिक विकासके लिये साहित्य-गोष्ठियोंका भी आयोजन करना चाहिए। इन गोष्ठियोंमें पहलेसे विषय निर्धारित कर देने चाहिएँ, छात्रोंको उन गोष्ठियोंमें सक्रिय योग देनेके लिये उत्साहित करना चाहिए और उन्हें सामग्रीका भी निर्देश कर देना चाहिए कि वे उसके आधारपर पूर्व पक्ष या उत्तर पक्षकी ओरसे योग्यतापूर्वक विषयका प्रतिपादन कर सकें। विषयोंके चुनावमें इस बातका सदा ध्यान रखना चाहिए कि जिस अवस्था या बुद्धिके बालक हों उसी अवस्था और बुद्धिके अनुकूल ऐसे विषय देने चाहिएँ जिनपर छात्र स्वयं अपने अनुभवसे अपने विचार व्यक्त कर सकता हो। तत्संबंधी अध्यापकोंका यह भी कर्त्तव्य है कि बालकों-को यह भी शिक्षा दें कि सभामें किस प्रकार व्यवहार करना चाहिए, किस प्रकार संबोधन करना चाहिए और किस प्रकार विपक्षीके प्रश्नोंका उत्तर देना चाहिए। इस प्रकारकी गोष्ठियाँ

तीन प्रकारकी हो सकती हैं—(१). वाद-विवादके रूपमें, (२ किसी विषयपर व्याख्यानके रूपमें, या (३) ऐसी गोष्ठियोंके रूपमें जिसमें एक दलके सब छात्र अलग अलग—अपनी-अपनी रुचिके अनुसार कोई लेख पढ़ता है, कोई कहानी कहता है, कोई गीत सुनाता है और कोई कविता-पाठ करता है। ऐसी गोष्ठियोंमें विषयोंका बंधन नहीं होता, जिसकी जैसी रुचि होती है वैसा ही आत्माभिव्यंजन करता है।

चल-चित्र

आजकल शैक्षणिक चलचित्र-निर्माताओंने बहुतसे ऐसे चल-चित्रोंका निर्माण किया है जिनमें इतिहास, भूगोल, विज्ञान, स्वास्थ्य, समाज-शास्त्र आदि सभी विषयोंका समावेश है और ऐसी संस्थाएँ भी सब देशोंमें खुल गई हैं जहाँसे ऐसे चित्र, 'प्रदर्शन-यंत्रोंके साथ अत्यंत सुविधासे और सस्तेमें प्राप्त हो सकते हैं। सभी प्रान्तोंके शिक्षा-विभागोंसे पत्र-व्यवहार करनेपर इन चित्रोंका पूरा विवरण मिल सकता है। युक्तप्रान्तमें विजुअल इन्स्ट्रक्शन सोसाइटी' (दृश्य-शिक्षा-समिति) का कार्यालय लखनऊमें है, वहाँसे इस संबंधकी पूरी सामग्री और जानकारी प्राप्त हो सकती है।

नाटक

छोटे-छोटे नाटक, संवाद और खेल भी इस प्रकार प्रयुक्त किए जा सकते हैं कि उनसे इतिहास तथा अन्य विषयोंका भी सर्वसाधारणको परिचय कराया जा सकता है। नाटककी योजनासे छात्रोंमें भाषा-ज्ञान बढ़ता है, लौकिक आचार-विचारकी शिक्षा मिलती है, व्यवहार-कुशलता आती है, मनुष्योंको पहचाननेकी शक्ति बढ़ती है, बहुत बड़ी भीड़के सम्मुख बोलने और मत व्यक्त करनेका

हियाव खुलता है, वाणीके उतार-चढ़ाव, भावोंको अभिव्यक्त करनेकी कला भी आती है और दूसरोंको आकृष्ट करनेका कौशल भी प्राप्त हो जाता है।

हस्तलिखित पत्रिका

हस्तलिखित पत्रिकाओंकी महत्ताके विषयमें पहले हम पुस्तकालयकी व्यवस्थाके प्रकरणमें विस्तारपूर्वक कह आए हैं। इनके अतिरिक्त अंत्याक्षरी-प्रतियोगिता, समस्यापूर्ति और कवि-सम्मेलनोंकी योजना भी मानसिक और बौद्धिक विकासमें सहायक हो सकती है।

सभा-चातुर्य तथा सार्वजनिक सभा

सभा-चातुर्य सिखानेके लिये छात्रोंको सार्वजनिक सभाओं और व्याख्यानोंमें ले जाना चाहिए और सभाके पश्चात् उन्हें समझाना चाहिए कि सभापति-पदके लिये किस प्रकार प्रस्ताव और समर्थन हुए, अमुक वक्ताने किस प्रकार भाषण प्रारंभ किया, किस प्रकार तर्क उपस्थित किए और छात्रोंको उस सभाके वक्ताओं और प्रबंधकोंके व्यवहारसे क्या सीखना चाहिए और क्या छोड़ देना चाहिए। स्वतंत्र भारतमें आज म्युनिसिपल बोर्डों, ज़िला बोर्डों तथा सार्वजनिक सभा-समितियोंमें जिस प्रकारका उद्दण्डता-पूर्ण, अशिष्ट और उच्छृंखल आचरण दिखाई पड़ता है उसे देखते हुए यह आवश्यक है कि हम अपने भावी नागरिकोंको सभा-चातुर्यकी शिक्षा दें। सभा-चातुर्यके लिये तीन गुण अत्यंत आवश्यक हैं—एक सहनशीलता, अर्थात् अपने प्रतिपक्षीकी कटुतम आलोचनाको भी शांत भावसे सुनते रहना; दूसरे वाक्-पटुता, अर्थात् अवसर और आवश्यकताके अनुसार जो कुछ कथनीय हो वह अत्यन्त शिष्ट और शीलयुक्त भाषामें निर्भय होकर ऐसे ढंगसे कहना कि दूसरा परास्त भी हो जाय और बुरा भी न माने; तीसरे

मनःशौच अर्थात् अपने मनमें किसी व्यक्तिके प्रति किसी प्रकारकी दुर्भावना न रखना। प्रायः सभी सभा-समितियोंके सदस्योंमें यह बात देखी गई है कि जो सभाओंमें एक दूसरेका विरोध करते हैं वे सभाके बाहर भी परस्पर शत्रु बन जाते हैं। यह प्रवृत्ति अवांछनीय है। सभाका विरोध सभामें समाप्त हो जाना चाहिए। इसलिये आचार्यका कर्त्तव्य है कि वह इस प्रकारके सभा-संबंधी आचरणकी शिक्षा देनेकी उचित व्यवस्था करे।

प्रबंध-योग्यता

प्रत्येक बालकको अपने जीवनमें किसी न किसी प्रकारके प्रबंधका भार उठाना ही पड़ता है। इन्हीं बालकोंमेंसे वे सब नागरिक निकलते हैं जो गृहस्थीसे लेकर पूरे राष्ट्र तकके प्रबंधका भार ग्रहण करते हैं। जिन बालकोंको प्रारंभमें छोटी-मोटी बातोंके प्रबन्धका शिक्षण मिल चुका होता है वे आगे चलकर अत्यन्त व्यवस्थित और सुघर रूपसे व्यवस्था करते हैं और जिन्हें इस प्रकारकी शिक्षा प्राप्त नहीं होती वे सदा असावधान होकर सब काम बिगाड़ डालते हैं।

प्रबन्धके अवसर

इसलिये छात्रोंको भोजनालय, छात्रावासकी स्वच्छता, विद्यालयकी सजावट, यात्राओंका प्रबन्ध, नाटक या उत्सवोंकी व्यवस्था, अतिथियोंका स्वागत-सत्कार आदि ऐसे अनेक काम सौंपे जाने चाहिएँ जिनके द्वारा उनमें प्रबन्ध करनेकी योग्यता आ सके। इस प्रकारके कामोंमें तीन बातोंपर विशेष ध्यान देना चाहिए—१. जो काम दिया जाय वह ठीक समयसे हो, २. अत्यन्त स्वच्छता और सुन्दरताके साथ संपन्न किया जाय और ३. तत्संबंधी पैसे-रुपयेका सब लेखा ठीक रक्खा जाय क्योंकि सार्वजनिक जीवनका बहुत कुछ यश-अपयश अर्थ-शौच अर्थात् रुपये-पैसेका हिसाब ठीक

रखने या न रखनेपर ही अवलम्बित होता है। इसका अर्थ यह हुआ कि प्रबन्धमें समय-पालन, कलात्मकता और सचाई होनी चाहिए। अध्यापकोंका यह कर्त्तव्य है कि वे मनोयोग-पूर्वक छात्रोंको इस प्रकार की शिक्षाके लिये अवसर देते रहें।

बालचर-मंडल, स्फूर्ति तथा कर्मठता

बालकोंको फुर्तीला और कर्मठ बनानेके लिये आजकल विद्यालयोंमें बालचर-शिक्षाका विधान किया गया है और प्रायः सभी विद्यालयोंमें बालचर-मंडल स्थापित भी हैं। बालचरोंके खेल, उनके अभ्यास और उनकी क्रियाएँ सभीमें स्फूर्ति, व्यायाम, ज्ञान-विस्तार, कर्मठता और बुद्धियोग सभीका अद्भुत् सम्मिश्रण है किन्तु उसकी शिक्षाके लिये ऐसे बहुमुखी प्रतिभावाले शिक्षकोंकी आवश्यकता है जिन्हें सभी विषयोंका थोड़ा-बहुत ज्ञान हो और जो गाने-बजाने और नाचनेसे लेकर व्याख्यान देनेतककी सब कलाएँ जानते हो। यह पाठ्य-क्रमातिरिक्त शिक्षाका क्रम अधिक आवश्यक और वांछनीय है।

१६

छात्रावास

गुरुकुल-पद्धति और छात्रावास

किसी भी शिक्षा-प्रणालीकी आदर्श पद्धति यह है कि छात्र तथा अध्यापक दोनों नगरके वातावरणसे दूर गुरुकुलमें ही अर्थात् आश्रम बनाकर परिवारके समान साथ-साथ रहें। इसीलिये इस गुरुकुल-पद्धति (रेजिडेंशल सिस्टम) को शिक्षा-शास्त्रियोंने सर्वश्रेष्ठ माना है। किन्तु शिक्षा जिस वेगसे बढ़ती जा रही है और जिस प्रकार छात्रावासका जीवन मँहगा होता जा रहा है उसे देखते हुए यह संभव भी नहीं है कि सब छात्र और अध्यापक साथ रह सकें। किन्तु प्रत्येक विद्यालयमें ऐसे बहुतसे छात्र आते रहते हैं जिनके अभिभावक उन्हें नगरके दूषित वातावरणमें निरंकुश बनाकर नहीं रखना चाहते। साधारण रूपसे भी यह उचित नहीं है कि अभिभावकहीन छात्रोंको नगरके कुप्रभावोंमें छोड़ दिया जाय। इसीलिये यह व्यवस्था की जानी चाहिए कि जो छात्र अपने अभिभावकोंके पास न रहते हों और बाहरसे आकर पढ़ते हों उन्हें छात्रावासमें एक कुशल गृहपति (वार्डन) तथा संप्रेरक (हाउस मास्टर) की छायामें रक्खा जाय।

गृहपति

गृहपति (सुपरिंटेंडेंट या वार्डन) तथा संप्रेरक (हाउस मास्टर)में स्वाभाविक गुण-चतुर्दशी होनी चाहिए। उसे नियुक्त करते समय आचार्यको यह देख लेना चाहिए कि गृहपति—

१. स्वस्थ हों।
२. शुद्धाचरण हों।
३. छात्र उनमें श्रद्धा रखते हों।
४. वयोवृद्ध हों।
५. छात्रोंपर वात्सल्य स्नेह रखते हों और अपने पुत्रके समान उनके सुख-दुःखका सदा ध्यान रखते हों।
६. नियमित जीवन व्यतीत करते हों अर्थात् वे स्नान, संध्या, शयन, भोजन आदिमें नियमित हों जिससे वे छात्रोंके लिये भी नियमित होनेके उदाहरण बन सकें।
७. सब प्रकारके व्यसनों (चाय, सिगरेट, तम्बाकू, भाँग, मदिरा, मांस, चल-चित्रदर्शन, सुन्दर भड़कीले वस्त्र आदिके दुरभ्यासों) से रहित हों।
८. अधिक अध्ययनशील भी न हों अन्यथा वे छात्रोंके निरीक्षणमें शिथिलता या उदासीनता व्यक्त करेंगे।
९. अनेक विषयोंके ज्ञाता हों तथा खेलकूद आदिमें भी सचेष्ट हों।
१०. अर्थशुचि हों अर्थात् रुपये-पैसेका ठीक ब्यौरा रखना जानते हों।
११. अच्छे प्रबन्धक हों।
१२. सुदर्शन और सुशील हों, कुदर्शन और चिड़चिड़े न हों।
१३. गंभीर स्वभावके हों और शासन तथा नियम-पालनमें कठोर हों जिससे छात्रावासके अन्तेवासियों तथा सेवकोंपर समान दृढ़ता तथा तेजके साथ शासन कर सकें।
१४. निरालस हों।
१५. माताकी ममता-भावना और पिताकी शासन-वृत्तिसे युक्त हों।

छात्रावास ही विद्यालयका मर्मस्थल है

सच पूछिए तो विद्यालय चलाना सरल है किन्तु छात्रावासकी व्यवस्था करना लोहेके चने चबाना है। कारण यह है कि विद्यालय दिनमें कुछ घंटे चलता है और उस समय छात्रोंपर शासन करनेके लिये अनेक अध्यापक भी आचार्यका साथ देते हैं। किन्तु छात्रावासमें तो दिनरातके चौबीस घंटोंमेंसे अट्ठारह घंटेतक गृहपति (वार्डन) तथा संप्रेरकों (हाउस मास्टरों) को ऐसे छात्रोंकी देखभाल करनी पड़ती है जो भिन्न परिवारों और परिस्थितियोंमें पले हुए, भिन्न बुद्धि, मन आचरण, अभ्यास, व्यसन, और संस्कारवाले होते हैं, जिनमें अत्यन्त मेधावीसे लेकर अत्यन्त मूढ़, अत्यन्त चेतनसे लेकर अत्यन्त आलसी, अत्यन्त बलवानसे लेकर अत्यन्त दुर्बल तथा, अत्यन्त विनीतसे लेकर अत्यन्त उद्दंड, अत्यंत सुशीलसे लेकर अत्यन्त दुःशील, अत्यन्त सदाचारीसे लेकर अत्यन्त दुराचारीतक लगभग सभी प्रकृतिके होते हैं। ऐसे बहु-प्रकृतिके छात्रोंको एक नियममें बाँधे रखना वैसे ही कौशलका काम है जैसे व्यायामचक्र (सरकस) वाले सिंह, हाथी, घोड़े, गधे, बन्दर, तोते आदि अनेक जीवोंको एक साथ एकत्र करके उन्हें अपनी आज्ञाके अनुसार कार्य करनेको प्रेरित और बाध्य करते हैं। अतः गृहपति (वार्डन) और संप्रेरकोंको सदा अपने कानों और नेत्रोंको सजग और सावधान रखना चाहिए क्योंकि छात्रावासमें निम्नलिखित प्रकारकी समस्याएँ प्रायः उपस्थित होती रहती हैं जिनमेंसे अधिकांश समस्याएँ इस कारण उत्पन्न होती हैं कि पहलेसे पढ़नेवाले छात्र नये छात्रोंके सम्पर्कमें आते हैं।

छात्रालयकी समस्याएँ

१: बड़े छात्र (या छात्रा) अपनेसे छोटे सुदर्शन छात्र-छात्राओं-पर समवयस्क छात्र (या छात्रा) एक दूसरेपर आसक्त

होकर अनेक प्रकारके अस्वाभाविक तथा अमानुषिक कुकर्म कर बैठते (बैठती) हैं। ये समस्याएँ छात्राओंमें अत्यन्त वेगसे बढ़ रही हैं और उसके कारण मूर्च्छा, उन्माद, हृद्रोग आदि अनेक व्याधियाँ बढ़ रही हैं।

२. छात्रावाससे रातको भागकर छात्र गाना सुनने, चित्र देखने या घूमने निकल जाते हैं।

३. विद्यालयके समय दिनमें अपने चुने हुए नगरवासी मित्र (मित्राणी) को साथ लेकर छात्रावासमें चायपानी करते, गप्प लड़ाते या अन्य कुकृत्य करते हैं। कन्यावासोंमें यह गप्प लड़ानेका और कक्षा छोड़कर छात्रावासमें जाकर सोनेका अभ्यास अधिक है। नगर-वासी और छात्रावासी छात्रोंका सम्पर्क घातक है।

४. चोरीसे मदिरा, अंडा, मांस, सिगरेट, भाँग आदि निषिद्ध वस्तुएँ लाकर सेवन करते हैं या चोरीसे जाकर बाहर खा आते हैं।

५. चोरी करते हैं।

६. सीधे छात्रोंको (छात्राओंको) दुष्ट छात्र (छात्राएँ) तंग करते (करती) हैं।

७. भोजनके संबंधमें और नौकरों (नौकरानियों) के संबंधमें कलह होता है और किसीको भी वे अतिथि बना लेते हैं।

८. उपन्यास आदि पढ़नेके लिये रातको बत्ती जलाते हैं।

९. छात्राएँ परस्पर वस्त्र और आभूषणका बदलौवल करती रहती हैं जिससे कभी-कभी विकट समस्याएँ खड़ी हो जाती हैं विशेषतः प्रचलित वेशभूषाका अनुकरण बहुत होता है।

१०. अध्यापकों-द्वारा दिए हुए विषय-सूत्र (नोट्स) या

पुस्तकोंके आदान-प्रदानमें मनमुटाव और बोलचाल बन्दी हो जाती है विशेषतः छात्राओंमें ।

११. शौचालयोंमें छात्रों अथवा छात्राओंके लिये बीभत्स और फूहड़ बातें लिखी मिलती हैं विशेषतः उन विद्यालयोंके छात्रावासोंमें जहाँ छात्र और छात्राओंको साथ शिक्षा दी जाती है ।

१२. बाहर जाने, बाहर घूमनेकी आतुरता होती है ।

१३. बाहरसे छात्रों (छात्राओं) के पास प्रेम-पत्र आते हैं ।

१४. नागरिक छात्रोंके हाथ या नौकरों (नौकरानियों) के हाथ प्रेमपत्र भेजते, मँगवाते हैं ।

१५. नौकरोंको पीटते हैं ।

१६. फल या मिठाईवालोंका या आपसमें उधार कर लेते हैं ।

समस्याओंका समाधान

ऊपर जो समस्याएँ बताई गई हैं उनका समाधान इस प्रकार किया जा सकता है—

१. बड़े छात्र छोटे छात्रोंसे दूर रक्खे जायँ और जिन दो समवयस्क छात्रोंमें अधिक आत्मीयता देखी जाय उन्हें दूर रक्खा जाय और एक कक्षाके छात्र भी एक साथ न रहें ।

२. रातको गृहपति तथा संप्रेरक घूमकर देखते रहें ।

३. अलग अलग प्रकोष्ठोंके बदले बखरी या दालान-प्रणाली (डोर्मिटरी सिस्टम) के लंबे भवन हों और दो समकोणस्थ पक्षोंके बीचमें संप्रेरकका दोनों ओर खुला कक्ष हो ।
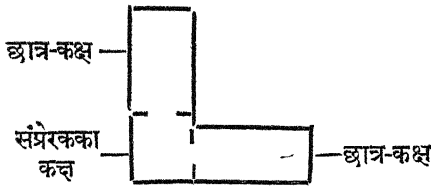
४. दिनमें ज्यों ही सब छात्र विद्यालयमें चले जाय त्यों ही छात्रावासका फाटक बन्द करा दिया जाय।

५. सेवकों (सेविकाओं) का छात्र (छात्राओं) से कोई सम्पर्क नहीं होने देना चाहिए और यह स्पष्ट आदेश दे देना चाहिए कि जिस छात्र (छात्रा) को जो कुछ अपेक्षित हो वह संप्रेरकसे कहे और वे वांछित वस्तु नौकरसे मँगा दें। छात्रोंको यह भली भाँति समझ लेना चाहिए कि छात्रावासके सेवक छात्रोंके सेवक नहीं हैं और उनपर छात्रोंका कोई अधिकार भी नहीं है।

६. छात्रों (छात्राओं) का रुपया, पैसा, आभूषणादि तो गृहपतिकी सुरक्षा-पेटिकामें रहें और शेष आवश्यक वस्तुएँ अपनी-अपनी पेटिकाओंमें रहें जो छात्रावासकी ओरसे दी जाती हैं। अतिरिक्त सब सामग्री अपनी-अपनी पेटिकाओंमें रखकर छात्रावासके भांडारमें रखवा देना चाहिए। किन्तु इससे भी अच्छा यह है कि छात्रोंको यह आदेश दे दिया जाय कि किसीके पास एक निर्दिष्ट परिमाणसे अधिक वस्तुएँ न हों।

७. दुष्ट छात्रों (छात्राओं) को किसी न किसी उत्तरदायित्व-पूर्ण कार्यमें जोत रखना चाहिए जैसे प्रार्थना कराना, भोजन परसवाना, उपस्थितिका प्रबन्ध करना आदि।

८. भोजनकी सामग्रीका स्वयं निरीक्षण करना और छात्रोंके साथ बैठकर वहीं भोजन करना चाहिए।

९. रसोइया, नौकर, भोजन-सामग्री आदिका कुल प्रबन्ध गृहपतिको करना चाहिए किन्तु परोसनेका काम बारी-बारीसे छात्रोंको सौंपना चाहिए।

१०. सेवा तथा पारस्परिक सद्भावना उत्पन्न करनेके लिये सामाजिक गोष्ठियाँ, नाटक आदि करते रहना चाहिए और निरन्तर यह बात छात्रोंके मनपर बैठाते रहना चाहिए कि स्वयं हानि उठाकर भी दूसरेका हित करना सीखें।

११. शौचालयोंका निरन्तर निरीक्षण करते रहना चाहिए।

१२. जितने पत्र आवें सबको छात्रों (छात्राओं) के समक्ष खोल और पढ़कर उन्हें दें।

१३. छात्रावासके झगड़े निबटानेके लिये अग्रणी-पंचायत (मौनीटर-कोर्ट) हो।

१४. बाहरके फल-मिठाईवालोंको न आने दिया जाय और यह स्पष्ट आदेश दे दिया जाय कि कोई किसीको उधार न दें।

१५. जिस छात्रके संबंधमें यह धारणा हो कि यह चोरी करता हो उसे अलग करके रक्खा जाय।

छात्रावास-भवन

पहले छात्रावास-भवनकी यह पद्धति थी कि एक, तीन या चार छात्रोंके लिये एक-एक प्रकोष्ठ बनाए जाते थे किन्तु यह सिद्धान्त अब अमान्य हो गया है क्योंकि अनेक समस्याएँ तो इस भिन्न-प्रकोष्ठ-प्रणालीसे ही उत्पन्न हो जाया करती थीं। अतः आजकल सिद्धान्त यह है कि छात्रावास—

१. चारों ओरसे घिरा हो।

२. दो लम्बे पक्षोंके बीचके कोनेमें दोनों ओरसे खुला

संप्रेरकका कक्ष हो जिसमें वह सदा दोनों पक्षोंको देखता रहे और दुहरा संवीक्षण (डबल विजिलेन्स) कर सके।

३. बाहर निकलनेका एक ही फाटक हो और फाटकके अतिरिक्त बाहर जानेका कोई दूसरा द्वार न हो।

४. इस भवनसे कुछ दूर चारों ओर परिक्षेत्र-भित्ति (बाउन्डरी वौल) हो जिससे कूदकर कोई भीतर न आ सके।

५. लम्बे प्रकोष्ठों या पक्षोंमें दोनों ओर ६-६ हाथ (फ़ीट) का अन्तर देकर एक एक अध्ययनाधार (स्टडी डेस्क) तथा एक एक चौकी हो जिसकी लम्बाई छः फ़ुट और चौड़ाई दो फ़ुटसे अधिक न हो।

छात्रावासके अन्य कक्ष

छात्रोंके आवास-कक्षके अतिरिक्त छात्रावासमें निम्नलिखित कक्ष होने चाहिएँ—

१. गृहपति-कक्ष, जिसमें सपरिवार गृहपति रह सके किन्तु उसका कोई द्वार छात्रावाससे सम्बद्ध न हो और उसके घरके बालक-बालिकाएँ छात्रावासके संपर्कमें न आ सकें।

२. संप्रेरक-कक्ष, प्रत्येक भवन-पक्षके लिये एक एक।

३. आतुरालय, जहाँ रोगी छात्रोंको औषध दिया जा सके और अलग करके रक्खा जा सके।

४. वाचनालय।

५. अध्ययन-कक्ष, जहाँ विशेष रूपसे अध्ययन करनेवाले छात्र एकान्तमें अध्ययन कर सकें।

६. छात्रावास-कार्यालय।

७. अतिथि-शाला, जिसमें छात्रोंके अभिभावक आकर ठहर सकें। यह छात्रावासके परिक्षेत्रसे बाहर होनी चाहिए।

८. स्नानागार।

९. शौचालय ।
१०. खुली भूमि, जिसमें गर्मीमें सो सकें या सभा आदि कर सकें।
११. सभा-भवन या प्रार्थना-भवन ।
१२. व्यायामशाला ।
१३. जलागार, जहाँ पीनेका जल रक्खा रहे ।

पुस्तकाधार (स्टडी डेस्क)

पुस्तकाधारमें तीन वस्तुएँ एक साथ जुड़ी होनी चाहिएँ— १. पुस्तकतीर्थ (बुक-शेल्फ), २. लेखनाधार (राइटिंग-स्लोप), तथा ३, पेटिका। यह इस प्रकार बना होना चाहिए कि आवश्यकता पड़नेपर चारोंको अलग किया जा सके।
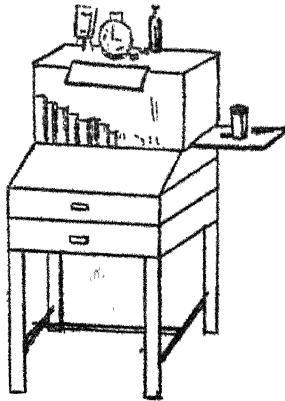
गृहपतिके अधिकार

नियमतः विद्यालयका आचार्य ही प्रधान गृहपति होता है और छात्रावासका पूरा उत्तरदायित्व उसपर होता है अतः उसकी

अनुपस्थितिमें उसके द्वारा नियुक्त गृहपति ही आचार्यका प्रतिनिधित्व करता है और उसे वे सब अधिकार प्राप्त हैं जो आचार्यके हो सकते हैं। किन्तु उसे सदा यह ध्यान रखना चाहिए कि साधारण कार्योंके अतिरिक्त कोई विशेष व्यवस्था करनी हो या कोई विशेष दंड देना हो तो उसे आचार्यसे परामर्श कर लेना चाहिए जिससे पीछे उसका आचार्यसे मतभेद न हो जाय और उसका असम्मान न हो।

गृहपतिको अधिकार है कि—

१. वह वर्षके प्रारम्भमें प्रत्येक अन्तेवासीको छात्रावासमें स्थान दे, जब चाहे जिसका स्थान बदल दे।
२. सोने, उठने, पढ़ने, प्रार्थना करने, खेलने, भोजन करने आदि कार्योंके लिये समय निश्चय करे।
३. अपराधके लिये दण्ड दे।
४. सेवक और रसोइयोंकी नियुक्त करे।
५. किसी बाहरी व्यक्तिको या अभिभावको छात्रोंसे मिलने दे विशेषतः कन्याओंके छात्रावासोंमें जहाँ कभी अत्यन्त अवांछनीय व्यक्ति छात्राके निकट-सम्बन्धी बनकर आ टपकते हैं और बड़ा दुष्कांड कर डालते हैं।

इसका तात्पर्य यह है कि जैसे जलपोतका शासक (कप्तान) वहाँका सबसे बड़ा अधिकारी और सर्वाधिकार-सम्पन्न होता है वैसे ही छात्रावासके लिये गृहपति होता है।

गृहपतिके कर्तव्य

गृहपतिका कर्तव्य यह है कि वह—

१. छात्रावासके लिये बनाए हुए नियमोंका सावधानी और तत्परताके साथ पालन करे।

२. चौबीस घण्टे छात्रोंकी सुरक्षाका ध्यान रक्खे।

१७

विद्यालयकी प्रबन्ध-समिति

पिछले अध्यायोंमें आचार्य, अध्यापक और गृहपतिके कर्त्तव्यों तथा विनय और शीलकी व्यवस्थाका विधान बना चुकनेपर यह आवश्यक प्रतीत होता है कि विद्यालयकी प्रबन्ध-समितिके कर्त्तव्योंका निर्देश कर दिया जाय क्योंकि आचार्य, अध्यापक और गृहपति चाहे जितने भी सचेष्ट और सावधान रहें किन्तु यदि प्रबन्ध समिति सहयोग न दे या आचार्यके प्रबन्धमें हस्तक्षेप करे और बाधा डाले तो अच्छेसे अच्छे आचार्य भी निरुपाय होकर असफल सिद्ध हो जाते हैं।

प्रबन्ध-समितिके सदस्य

किसी भी विद्यालयकी प्रबन्ध-समितियोंमें केवल वे ही लोग सदस्य हों जो शिक्षा-शास्त्रसे परिचित हों और जिनकी शिक्षामें रुचि हो। केवल आर्थिक सहायता करनेवाले या बड़े नामके किसीको सदस्य नहीं बनाना चाहिए। वकीलोंको, किसी राजनीतिक दलसे संबंध रखनेवालोंको या राजनीतिक कार्यकर्त्ताओंको कभी भूलकर भी किसी विद्यालयकी प्रबन्ध-समितिका सदस्य नहीं बनाना चाहिए क्योंकि व्यापक अनुभवसे यही सिद्ध हुआ है कि राजनीतिक कार्यकर्त्ता, विद्यालयोंके सबसे बड़े शत्रु और उसकी समुन्नतिके लिये भयंकर रूपसे घातक होते हैं।

व्यवस्थापक (मैनेजर)

विद्यालयका व्यवस्थापक ऐसा व्यक्ति होना चाहिए जिसे शिक्षाशास्त्रका, अर्थ-रक्षण (हिसाब-किताब) का अच्छा ज्ञान हो,

जिसका जनतामें आदर हो, जो सच्चा और सद्वृत्त (ईमानदार) हो, जिसे विद्या-प्रचार और प्रसारमें रुचि हो, धन एकत्र करनेकी बुद्धि और समर्थता हो और जो न सरकारी नौकर हो, न वकालत करता हो, न व्यवसाय करता हो। अच्छा तो यह है कि कोई धनी सुशिक्षित, वयोवृद्ध तथा शिक्षामें रुचि लेनेवाले ऐसे व्यक्तिको व्यवस्थापक बनाया जाय जो विद्यालयके लिये अधिकसे अधिक समय दे सके, दौड़-धूप कर सके और धन-संग्रह कर सके। अवकाश-प्राप्त आचार्य, अध्यापक या निरीक्षकको स्वल्प दक्षिणा (औनरेरियम) देकर भी इस कार्यके लिये उनकी सेवा ग्रहण करना अधिक उपयुक्त, उपादेय और वाञ्छनीय है।

प्रबन्ध-समितिके कर्त्तव्य

प्रबन्ध-समितिके निम्नलिखित कर्त्तव्य हैं—

१. विद्यालयके लिये धन एकत्र करना।
२. विद्यालय, छात्रावास, अध्यापक तथा सेवकोंके लिये भवन-निर्माण कराना तथा खेल-भूमिके लिये स्थान प्राप्त करना।
३. आचार्यकी नियुक्ति करना।
४. आचार्यकी इच्छा और सम्मतिसे विभिन्न विषयोंके लिये अध्यापक तथा लिपिक नियुक्त करना।
५. ठीक समयपर सबको वेतन देनेकी व्यवस्था करना और प्रति वर्ष नियमित वेतन-मानके क्रमसे वेतन-वृद्धि करना।
६. बाहरसे आए हुए अध्यापकोंके लिये आवासका प्रबन्ध करना।
७. छात्रोंकी संख्या बढ़ाने, विभिन्न कक्षाओंमें नये वर्ग खोलने तथा नये नये विषय चलानेकी व्यवस्था करना।
८. सब प्रकारसे आचार्य तथा अध्यापकोंको संतुष्ट रखना।

९, आचार्य-द्वारा उपस्थित की हुई आवश्यकताओंकी उपयोगिताका विचार करके उन्हें पूर्ण करना।
१०. किसी छात्र, सेवक, लिपिक या अध्यापकको कभी यह प्रोत्साहन न देना कि वे आचार्यकी, अन्य अध्यापककी, छात्रकी या सेवककी अवस्तुति करें। सबको जो कुछ कहना-सुनना हो, आचार्यसे कहें।
११. सुरक्षा-कोष (प्रॉविडेंट फंड) में उचित आर्थिक योग देना।

प्रबन्ध-समितिके अधिकार

प्रबन्ध-समितिको अधिकार होगा कि—

१. आचार्यमें यदि चरित्र संबंधी दोष हों या रुपये-पैसेमें गड़बड़ी हो या वह निर्धारित शिक्षा-नीतिके विरुद्ध चले तो उससे त्याग-पत्र ले ले।
२. विशेष धार्मिक या शिक्षा-नीतिके अनुसार विद्यालय चलानेके लिये आचार्यको बाध्य करे।
३. आचार्यकी सम्मतिके अनुसार झगड़ालू, अकर्मण्य, अयोग्य तथा दुश्चरित्र अध्यापकोंको हटा दें।
४. विद्यालय-भवन या भूमिको अच्छे स्थानपर स्थानान्तरित कर दे।

किन्तु उसे यह अधिकार नहीं होगा, न होना चाहिए कि—

१. योग्य तथा लोकप्रिय आचार्यको अकारण हटा दे।
२. वेतन रोक ले या उचित वेतन-वृद्धि रोक ले।
३. विद्यालय तथा छात्रावासकी आन्तरिक व्यवस्था (प्रवेश, अग्रारोहण, दंड, शिक्षण, दिनचर्या, खेल आदि कार्यों) में हस्तक्षेप करे या बाधा दे।
४. अपने मनके अनुकूल अध्यापक, लिपिक या सेवक नियुक्त कर दे।

अध्यापकोंको अवकाश

शिक्षा-व्यवस्थामें आजकल एक सबसे बड़ा दोष तो यह है कि अध्यापकको भी पचपन या साठ वर्षकी अवस्था प्राप्त होते ही अवकाश ग्रहण करनेको बाध्य होना पड़ता है। जैसे वकील और डाक्टर अपने जीवनके अन्तिम क्षणतक वकीली और डाक्टरी कर सकते हैं वैसे ही अध्यापकको भी तबतक काम करने देना चाहिए जबतक वह पूर्णतः अशक्त न हो जाय क्योंकि जिस समय वास्तवमें उसका ज्ञान और अनुभव परिपक्व तथा प्रौढ़ होता है उसी समय उसे अवकाश दे दिया जाता है। यह सिद्धान्त अत्यन्त दोषपूर्ण है।

वृद्ध अध्यापकोंका उपयोग

उचित तो यह है कि जैसे जैसे अध्यापक वृद्ध होता चला जाय वैसे वैसे उसके सिरसे कार्यका भार कम करते रहना चाहिए और उसे ऐसी प्रवृत्तियों या ऐसे कार्योंमें लगा देना चाहिए जिनके द्वारा वह नये अध्यापकों तथा छात्रोंको अपने अनुभव और ज्ञानका लाभ प्रदान कर सके और पथ-प्रदर्शन कर सके। वृद्ध अध्यापकोंका सबसे सुन्दर उपयोग तो गृहपति (वार्डन) और संप्रेरक (हाउस मास्टर) के रूपमें सर्वश्रेष्ठ हो सकता है क्योंकि वयोवृद्ध, ज्ञानवृद्ध और शीलवृद्ध अध्यापकोंके प्रभाव तथा सम्पर्कसे ही छात्रावासका संपूर्ण वातावरण स्वच्छ, सुन्दर और स्वस्थ हो सकता है।

१८

शिक्षा-शास्त्रके कुछ सिद्धान्त और उनकी व्याख्या

सिद्धान्तोंकी सर्वमान्यता

शिक्षा देनेका विचार करनेसे पूर्व आचार्यको शिक्षा-शास्त्रके कुछ सर्वमान्य सिद्धान्तोंका परिचय प्राप्त करना भी आवश्यक है क्योंकि उन्हीं सिद्धान्तोंके बलपर ही नवीन शिक्षा-प्रणालियों, पाठन-विधियों तथा शिक्षण-क्रमोंकी उत्पत्ति हुई है। किन्तु इन सिद्धान्तोंकी सर्वमान्यताका कारण भी दे दें और उनके मनोवैज्ञानिक आधारकी भी व्याख्या कर दें। क्योंकि उनके कारण डाल्टन-प्रणाली, प्रयोग-प्रणाली (प्रोजेक्ट मेथड), बालोद्यान-प्रणाली (किण्डर-गार्टन) आदि अनेक शिक्षा-योजनाओंका जन्म हुआ है जिनका उल्लेख हम यथास्थान करेंगे।

अनुकरण

बालक कुछ माता-पिता तथा कुल-परम्पराके संस्कार लेकर उत्पन्न होता है। जिस प्रकारके वातावरण तथा जैसी संगतिमें उसका लालन-पालन होता है वैसे ही उसके आचरण बनते हैं। वह जैसे औरोंको चलते-फिरते, उठते-बैठते, बोलते-चालते, खाते-पीते, नहाते-धोते, सोते-लेटते, ओढ़ते-पहनते, हँसते-रोते, कूदते-फाँदते तथा पढ़ते-लिखते देखता है वैसे ही वह भी आचरण करने लगता है। अनुकरण हमारी शिक्षाका मूलाधार है। बालकमें उत्साह छलका पड़ता है। उसके हाथ-पैर कुछ करनेको व्याकुल रहते हैं। वे कोई ऐसा काम करना चाहते

है जिसमें उनकी रुचि हो, जिसमें रुचि होगी उसीमें उनका मन लगेगा, जिसमें मन लगेगा उसीका ज्ञान बालकके मस्तिष्कमें दृढ़ होकर बैठेगा तथा जो कुछ उसके मस्तिष्कमें बैठेगा उसीके अनुकूल बालकका स्वभाव बनेगा, उसकी प्रवृत्ति सधेगी और उसका ज्ञान बढ़ेगा। ज्यों-ज्यों वह अपना ज्ञान संचित करता जाता है त्यों-त्यों इसी संचित ज्ञानके आधारपर वह नया ज्ञान बढ़ाता चलता है। अतः बालककी रुचि ही सबसे प्रधान वस्तु हुई। अनुभवसे जाना गया है कि बालकोंको रंगोंसे, रँगीली वस्तुओंसे बड़ा प्रेम होता है। उन्हें सुन्दर वस्तुएँ भाती हैं और ऐसी बातोंमें रुचि होती है जिसमें उन्हें कूदने-फाँदने और चिल्लानेका अवसर मिले। संगीतसे उन्हें स्वाभाविक प्रेम होता है। गतिशील कार्योंमें उनकी रुचि होती है। वे जादूगर, बाजीगर, नट आदिके करतब बड़े चावसे देखते हैं। उन्हें अचरजभरे करतबोंमें अधिक कुतूहल होता है। इसीलिये वे कहानियाँ बड़े चावसे सुनते हैं, उन्हें मेले-तमाशे अच्छे लगते हैं। वहाँ उन्हें खाने-पीनेकी वस्तुएँ, खेल-खिलौने, चरखी-घुमनी सभी रुचिकर वस्तुएँ मिल जाती हैं। बालकोंको दबकर, परतंत्रतामें रहना अच्छा नहीं लगता। उन्हें स्वतंत्रता चाहिए, रटनेमें उनकी तनिक रुचि नहीं। अतः शिक्षा-शास्त्रियोंने पुरानी डंडा-प्रणाली छोड़ी, बालकोंका मन समझा और शिक्षा-प्रणालीमें बालकोंके लिये रुचिकर वस्तुओं तथा क्रियाओंका समावेश करके उन्हें यथा-सम्भव स्वतंत्र रूपसे विकसित होनेकी सुविधा दे दी।

अध्यापनमें आकर्षण

आचार्यका यह कर्त्तव्य है कि वह विद्यार्थियोंका ज्ञान अपने प्रभावसे नहीं वरन् ऐसी विधियोंसे बढ़ावे कि बालक रुचि, कुतूहल, उत्साह तथा स्फूर्तिसे उसे ग्रहण करनेकी आकांक्षा करे।

अतः आचार्यको पाठ-ज्ञान करानेवाले सभी अध्यापकोंको निम्न-लिखित क्रमसे चलनेको प्रेरित करना चाहिए—

१. बालकके प्रस्तुत ज्ञानको परखो।
२. पठन, प्रयोग तथा अनुभवके द्वारा इस ज्ञानको उचित रूपसे फैलानेका अवकाश दो।
३. इस अर्जित ज्ञानको क्रमशः नियमित और व्यवस्थित करो।

उपर्युक्त क्रमके आधारपर ही शिक्षा-शास्त्रियोंने ये सिद्धान्तसूत्र बना लिए हैं—

१. व्यक्तिगत अनुभवसे व्यापक अनुभवकी ओर चलो।
२. प्रकटसे अप्रकटकी ओर चलो।
३. उदाहरणसे नियमकी ओर चलो।
४. ज्ञातसे अज्ञातकी ओर चलो।
५. साधारणसे असाधारणकी ओर चलो।
६. अनिश्चितसे निश्चितकी ओर चलो।
७. अनुभूतसे युक्तियुक्तकी ओर चलो।

१. व्यक्तिगत अनुभवसे व्यापक अनुभवकी ओर—

हमारे व्यक्तिगत अनुभवका आधार हमारी इन्द्रियाँ हैं। बालक एक वस्तुको देखता है, स्पर्श करता है, काममें लाता है, चखता है, सूँघता है या उसकी ध्वनि सुनता है और इस प्रकार उस वस्तुके विषयमें उसके मनमें अनेक भाव उत्पन्न होते हैं, इस प्रकारकी शिक्षा-विधिको अनुभव-विधि कहते हैं। किण्डर-गार्टन-प्रणालीमें इसकी प्रधानता है। किन्तु यह विधि यहीं समाप्त न करके कुछ और आगे बढ़ाकर अन्य पाठ्य-विषयोंकी शिक्षामें भी प्रयुक्त करनी चाहिए। रबड़की गेंदको बालक दीवारपर मारता है। वह गद्दा खाकर ऊपर उछल आती है। किन्तु जब वह गेंदको पानीके

कंडालमें फेंकता है तो वह ऊपर नहीं उठती, धुनी हुई रूईपर पटकता है तो नहीं उछलती, घासके ढेर पर मारता है तो वह नहीं लौटती। इस व्यक्तिगत अनुभवसे वह यह व्यापक परिणाम निकालता है कि रबड़की गेंद ठोस वस्तुओंपर ही पटकनेसे गद्दा खाती है।

२. प्रकटसे अप्रकटकी ओर—

यह कोई नया सिद्धान्त नहीं है, उपर्युक्त सिद्धान्तका ही दूसरा रूप है। एक उदाहरण लीजिए। दो बाँस और तीन बाँस मिलकर पाँच बाँस होते हैं। दो कुर्ते और तीन कुर्ते मिलकर पाँच कुर्ते होते हैं। बालक यह देखता है कि प्रकट दो वस्तुएँ प्रकट तीन वस्तुओंके साथ मिलकर पाँच वस्तुएँ हो जाती हैं। इन प्रकट उदाहरणोंसे वह यह अप्रकट नियम निकाल लेता है कि दो और तीन मिलकर पाँच होते हैं।

३. उदाहरणसे नियमकी ओर—

यह सिद्धान्त भी उपर्युक्त दो सिद्धान्तोंके ही अन्तर्भुक्त है। नियम बतानेसे पहले उदाहरण देने चाहिएँ अर्थात् कई उदाहरण प्रस्तुत करके विद्यार्थियोंसे ही व्यापक नियम निकलवाना चाहिए। उदाहरण लीजिए—

क. कुत्ता भोंकता है।
ख. चिड़िया चहचहाती है।
ग. गाय रँभाती है।

ऊपर दिए हुए वाक्योंमें से एक-एकको लेकर भोंकने, चहकने रँभानेवालोंका ज्ञान प्रश्नों-द्वारा कराकर यह नियम निकलवाया सकता है कि कुत्ता, चिड़िया और गाय तीनों शब्द कुछ कार्य का संकेत देते हैं अतः ऐसे शब्द कर्त्ता कहलाते हैं।

४. ज्ञातसे अज्ञातकी ओर—

बच्चोंका ज्ञान धुँधला, अधूरा तथा अक्रम होता है। अतः अध्यापकको यह जान लेना चाहिए कि प्रस्तुत विषयका बालकोंको कितना ज्ञान है। इसके पश्चात् युक्ति तथा तर्क-द्वारा अज्ञात सत्यको ज्ञात कराया जा सकता है। बच्चोंने देखा है कि पतीलीका ढक्कन दाल पकते समय हिलता है और ऊपर-नीचे होता है। इसीके आधारपर बताया जा सकता है कि प्रबल भापके सहारे रेलका अंजन चलता है।

५. साधारणसे असाधारणकी ओर—

बच्चोंके नित्य प्रतिके जीवनके अनुभवोंसे प्रारम्भ करके ऐसे तथ्यतक पहुँचाना जो असाधारण हो। संस्कृतके पण्डितों, विशेषतः नैयायिकोंके घट पट इसके उदाहरण हैं। बालक यह जानता है कि घड़ेको कुम्हारने बनाया है, कपड़ेको जुलाहेने बनाया है। इसी साधारणके आधारपर उसे यह असाधारण बताया जा सकता है कि इस संसारको भी किसीने बनाया है।

६. अनिश्चितसे निश्चितकी ओर—

बच्चा अपने कुत्तेको एक खेलकी सामग्री मात्र समझता है, अनेक प्रकारके प्रयोगों, कथाओं तथा उदाहरणोंके द्वारा अध्यापक उस कुत्तेके स्वभाव, उसकी शक्ति, उसकी आवश्यकता इत्यादिके विषयमें ज्ञान देकर कुत्तेके विषयमें बालकके अनिश्चित ज्ञानको पक्का कर देता है।

७. अनुभूतसे युक्तियुक्तकी ओर—

अनुभूत ज्ञान वह है जो हमारे अनुभवके फल-स्वरूप हमें प्राप्त हुआ है। युक्तियुक्त वह है जो युक्तिसंगत हो अर्थात् हमारे अनुभूत ज्ञानके वैज्ञानिक विवेचनद्वारा सिद्ध हो गया हो। बालक देखता है

कि पत्ते नीचे गिरते हैं, फल नीचे गिरते हैं। प्रत्येक वस्तु नीचे ही गिरती है किन्तु वह गिरनेका कारण नहीं बता सकता। गुरुत्वाकर्षणका सिद्धान्त जान लेनेपर वह प्रत्येक वस्तुके नीचे गिरनेका कारण भी बता सकता है। अब उसका अनुभव युक्तियुक्त हो गया।

सिद्धान्त-सूत्रोंका मूल तत्त्व

उपर्युक्त सिद्धान्त-सूत्रोंका मूल तत्त्व यह है कि बालकके प्रस्तुत ज्ञान तथा उसके मानसिक विकासके अनुसार उसको नया ज्ञान दिया जाय, उसके अनुभवोंका पूर्ण उपयोग करके उसीको नवीन ज्ञान देनेकी आधार-भूमि बनाई जाय। बालकके मनके अनुकूल अध्यापक चले, अपने मनके अनुकूल नहीं।

सिद्धान्तोंका प्रयोग

उपर्युक्त सिद्धान्तमें एक और भी ध्वनि है जिसका स्पष्टीकरण हो जाना चाहिए। जब हमारे हाथमें पाठ्य-पुस्तक आती है तो हम पहले पाठसे आरम्भ करते हैं और क्रमशः पढ़ाने लगते हैं। हम पीछे कह चुके हैं कि पाठ्य-पुस्तकोंका संकलन करनेवाले विद्वानोंको अधिक मनोवैज्ञानिक विचार करनेका कम अवसर रहता है इसलिये अध्यापकको सावधान होकर वर्षके आरम्भमें ही यह निश्चय कर लेना चाहिए कि वे किस क्रमसे विभिन्न पाठ पढ़ावेंगे। हमारी पाठ्य-पुस्तकमें वर्षा-वर्णन होता है किन्तु हम उसे पढ़ाते हैं गर्मीके दिनोंमें, शरद्-वर्णनको हम पढ़ाते हैं वर्षा ऋतुमें। इसी प्रकार जिन दिनों कक्षामें भूगोलके घण्टेमें चीन पढ़ाया जाता है उन दिनों हम अपनी पाठ्य-पुस्तकोंमें अरबवासियोंकी जीवनचर्या पढ़ाते हैं। अतः हमें पाठोंका क्रम निर्धारित करते समय इन बातोंका ध्यान रखना चाहिए—

क. पाठोंका क्रम समयके अनुकूल हो।

ख. अन्य पाठ्य-विषयोंसे उचित रूपसे सम्बद्ध हो।

ग. बालकोंकी मानसिक अवस्था तथा रुचिके अनुकूल हो।

घ. भाषाके क्रमिक विकासके अनुसार हो।

ङ. सरल तथा मनोरंजक पाठोंसे प्रारंभ करके दुरूह तथा नीरस पाठोंकी ओर प्रवृत्त हो।

१९

विशेष प्रकारके विद्यालय

पिछले प्रकरणमें हम शिक्षा-शास्त्रकी नई गति-विधियोंका संकेत कर चुके हैं। यहाँ हम मनोवैज्ञानिक अध्ययनके आधारपर आविष्कृत नई शिक्षा-प्रणालियोंका परिचय देंगे और यह विचार करेंगे कि उनमें शिक्षाकी व्यवस्था किस प्रकार की गई है और उनके लिये विद्यालयोंका प्रबन्ध कैसे करना चाहिए।

बालोद्यान (किन्डेरगार्टेन)

फ्रीड्रिख फ्रोबेलने सन् १८४० में जर्मनीमें बाल-पाठशालाका नाम बालोद्यान या किन्डेरगार्टेन रक्खा था। खेल, स्वाभाविक चहल-पहल तथा स्वेच्छापूर्वक स्वशिक्षा-द्वारा बालकोंको स्वयं-शिक्षित तथा स्वयं-संस्कृत बनानेके लिये वह पाठशाला खोली गई थी। फ्रोबेल महोदयका उद्देश्य यह था कि शारीरिक तथा मानसिक शक्तियोंको इस प्रकार जगाया जाय कि बालक यहाँपर अपनी वास्तविक प्रकृति, चरित्र तथा अपनी जीविका-वृत्तिको सचाईके साथ प्रकट कर सके, उन्नत कर सके और काम करते हुए अपनेको शिक्षित बनाता चल सके। इस उद्देश्यकी पूर्त्तिके लिये उन्होंने निम्नलिखित साधन प्रस्तुत किए—

(क) गीत, खेल और सीधा-सादा शारीरिक व्यायाम—गीतोंमें वे लोरियाँ थीं जो प्रायः माताएँ गाया करती थीं और खेल तथा व्यायाम वे ही थे जो बहुधा बालक खेला करते थे या माताएँ बच्चोंके साथ खेलती थीं।

(ख) सिखाऊ खिलौने—इन्हें 'फ्रोबेलका उपहार' भी कहते हैं। ये खिलौने बच्चोंके स्वतंत्र खेलनेके लिये बनाए गए जिन्हें वे 'अपने आप बना-बिगाड़कर अपना विकास कर सकें तथा गणित-संबंधी अनेक रूपोंसे परिचित हो सकें।

(ग) सिखाऊ हस्तकौशल-सामग्री—इसमें बालू, चिकनी मिट्टी, कागज, पंसिल इत्यादि हैं जिनके प्रयोगमें बालक कुछ वस्तुएँ स्वतः बना सकें।

(घ) प्रकृति-निरीक्षण—पेड़-पत्ते तथा चिड़ियों-चौपायोंसे परिचय प्राप्त करना, जिससे बालक दूसरे जीवोंको तथा ईश्वरको समझें और उनका आदर करें।

(ङ) कथा-कहानी सुनना।

उपर्युक्त साधनोंमें गीत तथा कहानियाँ ऐसे साधन हैं जिनसे भाषा-शिक्षणमें सहायता मिल सकती है। कुछ खिलौने भी इस प्रकारके हैं कि उनके मेलसे अक्षर बनाए जा सकते हैं किन्तु वास्तवमें इस स्वतंत्र शिक्षाके क्षेत्रमें भाषा-शिक्षणका कोई भिन्न अस्तित्व तथा महत्त्व नहीं। इसीके आधारपर मुधोलीके पंडित देवीदत्तने एक किन्डरगार्टेन-बक्स बनाया है जिसमें चौंसठ लकड़ीके टुकड़े रहते हैं, जिनसे कई भाषाओंके अक्षरों तथा बहुतसे जीवों और पदार्थोंकी आकृतियाँ बन जाती हैं। इन टुकड़ोंसे बच्चोंको आनन्द तो मिलता है किन्तु अक्षर सीखनेके बदले वे चिड़िया और साँप अधिक बनाते हैं, क ख ग घ कम। इस प्रणालीसे शिक्षा देनेमें बहुत समय नष्ट होता है, किन्तु आरम्भमें तीन वर्षके बालकको दो-तीन महीने इससे खेलाया जा सकता है।

मौन्तेस्सौरी पाठशालाएँ

इतालिया (इटली) निवासी श्रीमती मौन्तेस्सौरीने बालकोंके स्वतंत्र तथा स्वाभाविक विकासको अबाध बनानेके लिये एक शिक्षा-प्रणाली

चलाई जो उन्हींके नामसे प्रचलित है। उसके सिद्धान्त ये हैं (१) बादमें दी जानेवाली शिक्षाके लिये पहलेसे पुट्ठों तथा अंगोंको ठीक प्रकारसे सधा देना चाहिये। (२) उसकी सबसे अच्छी विधि है कि विशेष रूपसे निर्मित, नियमित सामग्रीपर क्रमिक अभ्यास कराया जाय। (३) ये अभ्यास बालक अपनी गतिसे करें। (४) जिन कार्योंमें अनेक प्रकारकी क्रियाएँ एक साथ होती हैं उनके लिये पहलेसे हाथ, आँख आदि सधा दिए जायँ जैसे सलाईसे बुननेमें। श्रीमती मौन्तेस्सौरीका दावा है कि उन्होंने बालकोंकी गति-विधिको भली भाँति समझ लिया है और उन्होंने जो सामग्री बनाई है वह अत्यन्त कठोर वैज्ञानिक कसौटीपर कसी जा चुकी है। पर अभीतक उन्होंने उस वैज्ञानिक कसौटीका लेखा नहीं दिया है जिससे और लोग भी उसकी परीक्षा कर सकें। भाषा सिखानेके लिये उनकी विचित्र विधि यह है कि बलुए कागजके अक्षर काटकर अलग-अलग चिपका दिए जाते हैं जिनपर आँखमें पट्टी बाँधकर या देखकर बालक हाथ फेरता और उनकी पहचान करता चलता है। अन्धोंके लिये तो यह प्रणाली ठीक है पर साधारण छात्रोंको इस प्रकार पढ़ानेसे समय और द्रव्यका अपव्यय ही होता है। इसी प्रकार उन्होंने व्याकरण, वाचन, गणित, संगीत तथा चित्रकला इत्यादिके लिये भी बड़े ठाटबाटके व्यय-साध्य उपाय निकाले हैं जिनके लिये न तो भारतके पास पैसा है और न समय। इसे तो राजाओंकी हवेली समझना चाहिए—

'दिलके बहलानेको ग़ालिब ये ख़याल अच्छा है।'

डाल्टन प्रयोगशाला-योजना

कुमारी हेलेन पार्खर्स्ट इस योजनाकी प्रवर्त्तिका हैं। उनका भी उद्देश्य यही है कि बालकोंको ज्ञान तो अवश्य दिया जाय पर वे उसे बोझ न समझें और मशीनके समान अरुचिकर तथा एकरस न मानें। इसीलिये उन्होंने नित्यकी दिनचर्या

(टाइमटेबिल) फाड़ फेंकने और सीधा एक महीने भरका काम छात्रको देनेकी सम्मति दी हैं। वे विद्यार्थीको यह स्वतंत्रता देती हैं कि वह इस कामको महीने भरमें जिस समय चाहे पूरा करे। इस योजनामें स्कूलकी प्रत्येक कक्षा भूगोल, भाषा, इतिहास तथा विज्ञान-की प्रयोगशाला बन जाती है जहाँ उस विषयकी सब सामग्री और विद्यार्थीको समयपर परामर्श देनेके लिये उस विषयका अध्यापक बैठा रहता है। इस योजनामें सब काम विद्यार्थी स्वयं करता है और जैसे ही वह एक निर्दिष्ट कार्य समाप्त कर लेता है वैसे ही उसे दूसरा मिल जाता है। मेधावी बालक अपनाकार्य शीघ्र समाप्त करके आगे बढ़ सकता है, मन्द बालक अपनी मन्दी चालसे काम चलाता रह सकता है। उसमें लाभ दोनोंको है। इसके द्वारा अध्यापक अधिक बोलनेसे बच जाता है। चार सप्ताहोंमें कार्य बाँटकर एक महीनेतक पढ़नेके लिये पाठ तथा लिखनेके लिये अभ्यास सौंपकर वह केवल सहायता देता रहता है। विद्यार्थी भी स्वतंत्र, अध्यापक भी स्वतंत्र। कुमारी पार्खर्स्टने उदारतापूर्वक यह स्वतंत्रता भी दे दी है कि इस प्रणालीमें स्थानीय परिस्थितिके अनुसार परिवर्त्तन भी किए जा सकते हैं। यह प्रणाली तभी आरम्भ की जा सकती है जब बालक अपने पैरोंपर खड़ा होनेके योग्य हो जाय अर्थात् सातवीं कक्षासे ऊपर इसका ठीक उपयोग हो सकता है।

इस प्रणालीमें जो कार्य दिया जाता है उसे ठेकेका कार्य (कौन्ट्रेक्ट एसाइनमेंट) कहते हैं। यह कार्य देते हुए निम्नलिखित बातोंका ध्यान रक्खा जाता है।

(१) प्रस्तावना—थोड़ेसे शब्दोंमें एक महीनेके कार्यका थोड़ा सा परिचय दे देते हैं।

(२) विषयांग—भाषाके किस अंग (रचना, व्याकरण,

कविता आदि) के लिये कार्य दिया जाता है, उसका उल्लेख होता है।

(३) समस्याएँ—इसके अन्तर्गत बहुत सी बातें हैं, जैसे-शब्द-तालिका बनाना, मानचित्र बनाना आदि। अधिकतः भाषाके पाठमें समस्याएँ कम होती हैं।

(४) लिखित कार्य—जो कुछ लिखवाना होता है उसकी पूरी सूची होती है और जिस तिथिको लेख लेना होता है उस तिथिका स्पष्ट उल्लेख होता है।

(५) कण्ठस्थ करनेके योग्य कार्य—उन कविताओं अथवा अनुच्छेदोंका उल्लेख होता है जो कण्ठस्थ कराने होते हैं।

(६) बैठक (कौन्फ़रेन्स)—उन तिथियोंका उल्लेख होता है जिनमें पूरी कक्षाको एक साथ बैठाकर प्रत्येक विषयपर बातचीत की जाती है।

(७) सहायक पुस्तकें—उन पुस्तकों तथा पत्र-पत्रिकाओं के नाम दिए जाते हैं जिनकी सहायता लेनेका आदेश दिया जाता है। साथ ही अध्यायों तथा पृष्ठोंका भी उल्लेख कर दिया जाता है जिसमें बालकको अधिक समय नष्ट न करना पड़े।

(८) गति-प्रदर्शक (ग्राफ़)—बालकको यह बतलाया जाता है कि वह अपनी उन्नतिका लेखा किस प्रकार बनावे।

(९) सूचना-पट्टका अध्ययन—जब कभी प्रयोगशालाके सूचना-पट्टपर कोई चित्र, मानचित्र अथवा लेख आदि पढ़नेके लिये टाँग दिए गए हों तो उनका भी उल्लेख कर दिया जाता है।

(१०) विभागीय छूट—कक्षाके विभिन्न पाठ्य विषयोंमें परस्पर सहयोग होता है। यदि किसी विद्यार्थीको इतिहासके अध्यापकने शिवाजीपर एक लेख लिखनेको दिया और वह लेख भाषाकी दृष्टिसे बहुत अच्छा लिखा गया तो भाषाका अध्यापक

अपने दिए हुए लेखन-कार्यमें उतनी कमी कर देता है और उसका उल्लेख कर देता है। इस प्रकार एक-एक सप्ताहका कार्य अलग अलग बनाकर दे दिया जाता है।

उपर्युक्त सिद्धान्तोंको दृष्टिमें रखकर ऐसी पुस्तकोंका भी निर्माण और प्रचार करना चाहिए जिसमें भली प्रकार बाँट-कर काम देनेका सुयोग हो। यह प्रणाली दोष-रहित, मनोविज्ञान-सिद्ध, शिक्षा-शास्त्र-विहित, रुचिकर तथा सर्वत्र प्रयोज्य है, अतः सर्वश्रेष्ठ है।

प्रयोग-प्रणाली (प्रोजैक्ट मेथड)

यह प्रणाली सर्वप्रथम संयुक्त राज्य अमेरिकामें कृषिके लिये काममें लाई गई थी। उसके पश्चात् अन्य पाठ्य विषयोंमें भी इसका प्रयोग किया गया। इसके प्रवर्त्तकोंने प्रयोगकी यह परिभाषा की है—'प्रयोग वह समस्यात्मक कार्य है जो वास्तविक परिस्थितिमें पूरा किया जाय।' कहनेका तात्पर्य यह है कि इस प्रणालीसे जो विषय पढ़ाए जायँ वे स्कूलके पाठ्य विषय कहकर नहीं वरन् वास्तविक कार्यके रूपमें सिखलाए जायँ। भाषा-शिक्षणका उदाहरण देनेसे इसका स्वरूप स्पष्ट हो जायगा। मान लीजिए विद्यार्थियोंको निमंत्रण-पत्र लिखना सिखाना है। जिस दिन स्कूलमें कोई उत्सव हो, उस दिन कक्षाके विद्यार्थियोंसे कहा जाय कि नगरके प्रतिष्ठित लोगोंके लिये निमंत्रण-पत्र लिखो और भेजो। वह प्रयोग दे दिया गया। अब वे नगरके प्रतिष्ठित लोगोंकी नामावली बनावें, पुराने निमंत्रण-पत्र एकत्र करके उनमेंसे अपनी-अपनी रुचिके अनुसार सुन्दर निमंत्रण-पत्र छाँटें, तदनुसार अपने आप लिखें, लिफ़ाफ़े तैयार करें, पते लिखें और फिर उन्हें भेज दें। इस प्रकार एक-एक विद्यार्थी दस-दस बीस-बीस पत्र लिखेगा तो उसे कमसे कम निमंत्रण-पत्रका वह रूप तो सिद्ध हो जायगा। अब आपने

देखा कि यह समस्यात्मक कार्य वास्तविक परिस्थितिमें पूरा किया गया। किन्तु यह स्मरण रखना चाहिए कि सब विषय तथा उनके सब अंग इस प्रणालीके द्वारा नहीं सिखाए जा सकते। इसका प्रयोग स्कूलोंमें विशेष अवसरोंपर किया जा सकता है।

वर्धा-शिक्षा-योजना

आजकल वर्धा-शिक्षा-योजनाकी धूम है। युक्तप्रान्तमें आधार-शिक्षा (बेसिक) के नामसे तथा मध्यप्रान्तमें विद्या-मन्दिर-योजनाके नामसे इसीका प्रयोग हो रहा है।

यह योजना सर्वप्रथम महात्मा गाँधीने अपने 'हरिजन' के सन् १९३७ ई० के एक अंकमें प्रकाशित की थी। उनके अनुसार यह योजना (१) मुख्यतः गाँवके लिये है जहाँ नगरोंकी अपेक्षा शिक्षाका अधिक अभाव है। (२) इसका उद्देश्य यह है कि काम-चलाऊ शिक्षा, अक्षर-ज्ञान तथा किसी उपयोगी कौशलका ज्ञान कराया जाय। (३) यह शिक्षा करदाताओंपर भार न होकर स्वावलम्बी हो। (४) गाँव छोड़कर नगरोंमें जाकर बसनेकी प्रवृत्ति इसके द्वारा रोकी जाय।

इस योजनाकी विशेषता यह है कि इसमें सब ज्ञातव्य विषयोंकी शिक्षा एक मूल हस्तकौशलपर अवलम्बित तथा उससे सम्बद्ध होती है अर्थात् भाषा, इतिहास, भूगोल, संगीत सबका सम्बन्ध उस मूल हस्तकौशलसे होता है जो बालकने स्वीकार किया हो। इन मूल हस्तकौशलोंमें कताई-बुनाई, खेती-बारी, बढ़ईगीरी इत्यादि अनेक हस्तकौशल आ सकते हैं। यह योजना पैस्तालौज़ी महोदयके शिक्षण-सिद्धान्तोंका तथा उपर्युक्त प्रयोग-प्रणालीका भारतीय रूपान्तर मात्र है।

जब पहले-पहल सात प्रान्तोंमें कांग्रेसी सरकार स्थापित हुई

थी उस समय तत्कालीन शिक्षा-प्रणाली बदलनेकी व्यवस्था भी की गई और प्रत्येक प्रान्तमें वर्धा-शिक्षा-योजना लागू कर दी गई। यह शिक्षा-योजना भारतके चार कष्टोंको दूर करनेकी दृष्टिसे बनाई गई थी—१. दरिद्रता, २ निरक्षरता, ३ परतन्त्रता और ४ विद्यालयोंकी नीरसता। यह प्रणाली चार मुख्य मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तोंपर अवलंबित करके बनाई गई—१ स्वयं-शिक्षा (औटो-एजुकेशन), २. करना और सीखना (लर्निंग बाइ डुइंग), ३. आवयविक शिक्षा (सैन्स ट्रेनिंग), ४. श्रमका आदर (डिगनिटी औफ़ लेबर)। इन्हें ध्यानमें रखकर इस प्रणालीके चार अंग भी निर्धारित हो गए—

१. अनिवार्य शिक्षा, २. मातृभाषाके द्वारा, ३. किसी हस्त-कौशलपर अवलंबित तथा ४. स्वावलंबी।

हस्तकौशल

हस्त-कौशलके चुनावमें यह प्रतिबन्ध लगा दिया गया कि केवल वही हस्तकौशल शिक्षाका आधार बनाया जाय जिसमें अधिकसे अधिक शिक्षाकी संभावनाएँ निहित हों अर्थात् जिसके आधारपर पाठ्य-क्रमके सभी विषय पढ़ाए जा सकें।

पाठ्य-विषय

पाठ्य-विषयोंमें निम्नलिखित विषय निर्धारित किए गए—मातृभाषा, हिन्दुस्तानी, व्यावहारिक गणित, सामाजिक अध्ययन (इतिहास, भूगोल तथा नागरिक शास्त्र), संगीत, हस्तकौशल तथा व्यायाम। मानव मात्रके उपयोगमें आनेवाले सभी विषयोंका समावेश तो इस सूचीमें हो गया किन्तु जो पाठन-समयकी अवधि बनाई गई वह इतनी विषम थी कि आधेमें हस्तकौशल रहा और आधेसे कममें शेष अन्य विषय।

स्वावलम्बनका सिद्धान्त

इस योजनाके निर्माणके अनन्तर जब शिमलेमें इसकी सभा बैठी तो उसने यह निर्णय कर दिया कि इस योजनाको स्वावलंबी नहीं बनाया जा सकता और इस निर्णयके आधारपर चौथा अंग अलग कर दिया गया। किन्तु इस अंगके अलग कर देने मात्रसे तो संतोष नहीं हुआ क्योंकि तीन घण्टे बीस मिनटतक चरखा चलाना या अन्य हस्तकौशलमें समय लगाना भी तो मनोविज्ञानके सभी सिद्धान्तोंके प्रतिकूल है। हाथका ही काम क्यों न हो किन्तु उसमें भी तो एकाग्रता अपेक्षित है और एकाग्रता निःसीम नहीं होती, उसकी भी अवधि होती है। इसीलिये युक्तप्रान्तमें आधार-शिक्षा या बुनियादी तालीम और मध्यप्रान्तमें विद्यामन्दिर-योजनाके नामसे जब वर्धा-प्रणाली चलाई गई तब उसमें हस्तकौशलकी अवधि कम कर दी गई।

संचेष्टन विद्यालय (ऐक्टिविटी स्कूल)

आजकल योरोपमें कुछ नये प्रकारके विद्यालय चले हैं जिनमें साधारण गणित तथा लिखने-पढ़नेका ज्ञान देकर बालकोंको जीवनकी विभिन्न समस्याओं और प्रवृत्तियोंका साक्षात् परिचय दे दिया जाता है और स्वयं उन्हें ही सचेष्ट होकर उन कार्योंको सम्पन्न करनेकी प्रेरणा दी जाती है। ऐसे संचेष्टन विद्यालय (ऐक्टिविटी स्कूल) हमारे देशमें श्रीनगर (कश्मीर) में चलाए जा रहे हैं। इन विद्यालयोंमें मुख्यतः इतने प्रकारकी चेष्टाएँ होती हैं—

१. विद्यालयका भवन स्वच्छ रखना और सजाना।
२. फुलवारी लगाना और बेलें चढ़ाना।
३. पाचनालय (रसोईघर) और भोजनालयमें चौका लगाना, बर्त्तन माँजना-धोना, दाल-चावल बीनना, आटा पीसना

मसाला पीसना-कूटना, हाटसे तरकारी आदि लाना, तरकारी बिनारना, भोजन पकाना, पीढ़ा-पानी लगाना, परोसना, हाथ धुलाना और थाली-पीढ़े उठाकर रखना।

४. डाकका काम करना।
५. टेलीफ़ोनकी व्यवस्था करना।
६. टाइप करना।
७. दूकान लगाना और विभिन्न वस्तुएँ बेचना।
८. कपड़े बनाना, सीना, धोना, छापना।
९. बुनना, बेल-बूटे काढ़ना।
१०. प्रकाशका प्रबन्ध करना।
११. नाटक या सिनेमाका प्रबन्ध करना।
१२. पर्वोत्सवका प्रबन्ध करना।
१३. विशिष्ट अतिथिके स्वागत, निवास तथा भाषणका प्रबन्ध करना।
१४. खेल-खिलौने बनाना।
१५. चित्र बनाना।
१६, सम्मिलित रूपसे गीत-नृत्य करना।
१७. पर्यटनका प्रबन्ध करना।
१८. तेल, साबुन बनाना।
१९. औषधालय चलाना, रोगीकी सेवा करना।
२०. सभा या गोष्ठी करना।
२१. बच्चोंकी देखभाल करना

इस विद्यालयमें अध्यापिकाएँ होती हैं और वे केवल निर्देश मात्र करती हैं, शेष सब कार्य बच्चे ही करते हैं। इस लदमें ३ से ८ वर्षतकके बच्चे ही रहते हैं और जब वे अत्यन्त फुर्तीके साथ हँसमुख होकर झटझट अत्यन्त तत्परताके साथ सब

कार्य करते रहते हैं तो उन्हें, देखनेमें आनन्द तो मिलता ही है, बड़ी प्रेरणा भी मिलती है। ऐसे विद्यालयोंकी संख्या बढ़नी चाहिए।

विभिन्न विद्यालयोंके लिये विभिन्न योजनाएँ

जिन नवीन शिक्षा-प्रणालियोंकी ऊपर चर्चा की गई है उनके लिये जिन विशिष्ट विद्यालयोंकी स्थापना की जाय उनके अनुसार विद्यालयका कार्य-क्रम भी भिन्न हो और उनके लिये विशिष्ट शिक्षा पाए हुए अध्यापकोंकी नियुक्ति भी हो। क्योंकि जबतक उस विशेष पद्धतिकी शिक्षा अध्यापकको प्राप्त नहीं होगी तबतक वह सफलता नहीं प्राप्त कर सकता। किन्डरगार्टेन तथा मौन्तेस्सौरी पद्धतियोंके लिये भिन्न प्रकारकी शिक्षा दी जाती है। उन विद्यालयोंमें छात्रोंकी प्रवृत्ति स्वयं संयत होती है क्योंकि वहाँ अध्यापक केवल पथ-प्रदर्शकके रूपमें उपस्थित रहता है जो सब विद्यार्थियोंको अलग सामग्री देकर केवल उनकी गति-विधिका निरीक्षण भर करता रहता है। हाँ, जब उसे कहानी सुनानी पड़ती है तब उसे सक्रिय योग देना पड़ता है।

डाल्टन प्रयोगशाला-योजनाकी समीक्षा

डाल्टन-प्रयोगशाला-योजनाके अनुसार जो विद्यालय चलाए जाते हैं उनके लिये सर्वतोमुखी प्रतिभावाले बहुश्रुत तथा बहुपठ अध्यापकोंकी आवश्यकता रहती है जिन्हें यह ज्ञात हो कि ऐसाइनमेन्ट या कार्य कितना देना चाहिए, किस प्रकार साप्ताहिक, मासिक और वार्षिक कार्यका विभाजन होना चाहिए, किस प्रकार विषयोंका अन्तर्योग करना चाहिए और किस प्रकार विभिन्न विषयोंकी प्रयोगशालाओंमें विद्यार्थियोंको सहायता देनी चाहिए। यद्यपि डाल्टन प्रयोगशाला-योजना शिक्षाके क्षेत्रमें सर्वश्रेष्ठ योजना समझी जाती है किन्तु उसके संचालनके लिये अध्यापक भी अत्यन्त कुशल और बहुपठ हों जो प्रत्येक विषयसे

सम्बद्ध पुस्तकों, पत्रिकाओं आदिका विवरण छात्रोंको दे सकें और प्रत्येक विद्यालयमें प्रत्येक विषयकी सामग्रीसे पूर्ण प्रयोगशालाएँ भी हों। ऐसे विद्यालयोंके लिये जितने धनकी आवश्यकता हो सकती है वह भारतके विद्यालयोंमें तबतक प्राप्त नहीं हो सकता जबतक धनी लोग रुचिपूर्वक योग न दें।

प्रयोग-प्रणालीकी आलोचना

प्रयोग-प्रणालीके सम्बन्धमें हम पहले ही बता आए हैं कि सब विषय और उनके सभी उपविषय इस प्रणालीसे नहीं पढ़ाए जा सकते किन्तु पाठ्य-क्रमातिरिक्त शिक्षणमें छात्रोंको नये प्रयोग देकर उनके ज्ञान और उनकी कार्य-कुशलतामें अभिवर्द्धन कराया जा सकता है। आचार्यका कर्तव्य है कि इस प्रकारके कुछ प्रयोग वर्ष भरमें अवश्य करावे जिनमें सामूहिक रूपसे अधिकसे अधिक संख्यामें छात्र योग दे सकें।

वर्धा-योजनाकी व्याख्या

कुछ सुधारोंके साथ वर्धा शिक्षा-योजना प्रत्येक प्रान्तमें चलाई जा रही है और उसके लिये स्थान-स्थानपर शिक्षण-केन्द्र भी खुले हैं। किन्तु अनेक केन्द्रोंका निरीक्षण करके और आधार-शिक्षा प्राप्त करनेवाले अध्यापकोंसे बातचीत करके यह परिणाम निकला है कि लगभग नब्बे प्रतिशत अध्यापकोंकी उसमें रुचि नहीं है और जब अध्यापकोंकी ही रुचि नहीं है तब उसमें बलपूर्वक सफलता नहीं प्राप्त की जा सकती। वास्तवमें इस प्रकारके विद्यालय गिने-चुने केन्द्रोंमें होने चाहिएँ जहाँ इतने कुशल अध्यापक हों कि वे हस्तकौशलके साथ विभिन्न पाठ्य-विषयोंका समुचित अन्तर्योग स्थापित कर सकें। जिस प्रकारसे यह योजना बनी है उसके अनुसार प्रत्येक अध्यापकको सङ्गीत, चित्र आदि

बहुत सी कलाएँ भी आनी चाहिएँ क्योंकि जबतक वे नहीं आवेंगी तब तक वर्धा-शिक्षा-योजना सफल नहीं हो सकती।

कहनेका तात्पर्य यह है कि नवीन प्रणालियोंके अनुसार जो विद्यालय खोले जायँ उनमें ऐसे अध्यापक न रक्खे जायँ जो उसके सब पक्षोंसे, रहस्योंसे परिचित न हों क्योंकि इसके बिना उनका खोलना न खोलना बराबर है। आचार्योंका यह कर्त्तव्य है कि वे अपने विद्यालयकी शिक्षा-व्यवस्था ठीक करनेके लिये या तो उचित अध्यापकोंका संग्रह करें या नवीन प्रणालियोंका प्रयोग ही छोड़ दें।

२०

कुछ व्यावहारिक बातें

पिछले अध्यायोंमें हम पाठशालाके प्रबन्धके सम्बन्धमें सभी ज्ञातव्य बातोंपर विस्तृत रूपसे विचार कर चुके हैं। इस अध्यायमें उपसंहार-रूपसे हम कुछ और ऐसी व्यावहारिक बातोंका उल्लेख कर देना आवश्यक समझते हैं जो आचार्यको लोकप्रिय बनानेमें बहुत सहायता कर सकती हैं। इनमेंसे कुछ तो पहले भी कही जा चुकी हैं और कुछ नई हैं—

१. अपने साथी अध्यापकोंसे सदा सद्भाव रक्खो और कभी किसीके सामने, कक्षामें या बाहर उनमेंसे किसीकी बुराई न करो। यदि कोई दूसरा बुराई करता भी हो तो उसका शिष्ट रूपसे खण्डन कर दो या मौन रहो पर वह मौन समर्थनात्मक मौन नहीं वरन् विरोधात्मक मौन होना चाहिए। छात्रोंको भी अपने सामने अन्य अध्यापकोंकी बुराई करनेसे रोको।

२. छात्रोंको पुस्तक, सम्मति तथा अन्य प्रकारकी सहायता देनेके लिये सदा प्रस्तुत रहो। यदि कोई छात्र रोगी हो तो उसकी सेवा-सुश्रूषा करो और जबतक वह चङ्गा न हो जाय उसे देखते रहो या उसका समाचार लेते रहो। यदि कोई छात्र आर्थिक सहायता माँगे तो उसे नहीं मत कहो, उधार लेकर भी सहायता करो। उचित तो यह है कि सहायताके योग्य छात्रोंको बिना उनके माँगे ही, सहायता दो। इसी प्रकार प्रत्येक अध्यापक-को भी समय-समयपर यथावश्यक सहायता देते रहो और उनके दुख-सुखमें उनसे सहानुभूति-पूर्ण व्यवहार करते रहो।

३. छात्रोंके संघटनों, उत्सवों और सभाओं आदिमें जब निमन्त्रण

मिले तब अवश्य सम्मिलित हो, किन्तु निमन्त्रण न मिलनेपर वहाँ न जाओ। समय-समयपर अध्यापकोंसे उनके घर जा-जाकर मिलते-जुलते रहो। अपनेको अलग मत रक्खो और न झूठी शान दिखाओ।

४. छात्रोंको ज्ञान देनेमें कभी सङ्कोच न करो और यदि कोई छात्र घर आवे तो उसे अवश्य समय दो चाहे अपने कामकी कितनी भी हानि हो। यदि छात्र भोजनके समय आ गया हो तो उससे भोजनके लिये भी पूछ लो।

५. सदा प्रसन्न और मस्त रहो। जब छात्र प्रणाम करें तो मुस्कराहटसे उन्हें आशीर्वाद दो और परिचित न होनेपर भी उनसे कुशल-मङ्गल पूछ लो। यदि वे साथ चलते हों तो उनसे इस प्रकार क्रमिक बातें करो जिससे उन्हें ज्ञात हो जाय कि वे ज्ञानकी निधिके समक्ष पहुँच गए हैं। यदि अध्यापक नमस्कार करे तो अत्यन्त आत्मीयताके साथ उससे कुशल-मङ्गल पूछ लो।

६. अपनी पुस्तकें अध्यापकों और छात्रोंको अवश्य दो पर उसका ब्यौरा रक्खो।

७. अध्यापकसे और कक्षाके भीतर या बाहर बोलते या बात-चीत करते हुए एक ही भाषाका प्रयोग करो, चाहे वह हिन्दी हो, अँगरेज़ी हो या उर्दू हो और उसी तथा वैसी ही भाषाका अधिक व्यवहार करो जिसे अध्यापक या छात्र समझ सकते हों। साधारणतः अपने व्यवहारमें मातृभाषाका प्रयोग करो। आजकल जो हिन्दुस्तानी या ऐंग्लो-हिन्दुस्तानी नामकी खिचड़ी भाषा चली है उसका सर्वथा बहिष्कार करो।

८. आचार्यको गृह-शिक्षण (प्राइवेट ट्यूशन) कभी नहीं करना चाहिए। इससे मान नष्ट होता है। जो अपने घर आवे उसे निःशुल्क पढ़ा दो किन्तु पढ़ानेके लिये किसीके घर न जाओ। यही आचार्यकी मर्यादा और प्रतिष्ठा है।

९. अपनी गति संयत रक्खो। व्यसनोंसे दूर रहकर स्वच्छ

दर्पणकी भाँति अपने चरित्रकी रक्षा करो। बाहरके लोगोंसे, प्रबन्ध-समितिके सदस्यों या छात्रोंसे अधिक मेल-जोल कभी न रक्खो किन्तु अध्यापकोंके विश्वास-पात्र बनकर उन्हें विश्वास-पात्र बनाओ।

१०. अध्यापकों या छात्रोंसे कभी सेवा न लो। यदि छात्र स्वतः सेवा करनेको उत्सुक हों तो उसे स्वीकार लो किन्तु अपनी शारीरिक सेवा (पैर दबवाना, तेल मलवाना आदि) तो कदापि न कराओ। अध्यापकोंसे किसी प्रकारकी सेवा न लो, जहाँतक हो उनका आदर करो और उन्हें सुविधा दो।

११. सदा स्वच्छ रहो। अपना घर, कमरा, वस्त्र, पोथी आदि सब स्वच्छ और सक्रम ढङ्गसे रक्खो। अपने स्वभाव और व्यवहार-में सदा शिष्ट और मृदु रहो। छात्रोंके अभिभावकोंसे प्रेमपूर्वक मिलो और उन्हें छात्रकी उन्नतिके सम्बन्धमें उचित परामर्श भी दो।

१२. आचार्यका सबसे बड़ा शत्रु अभिमान है। अपनी विद्या, बुद्धि, कौशल, पद आदिका गर्व करके दूसरोंको नीचा दिखाने और तुच्छ समझनेकी भूल कभी न करो।

१३. छात्रोंके अभिभावकोंके साथ गहरी मित्रता या आत्मीयता स्थापित न करो क्योंकि इससे वे अनुचित लाभ उठा सकते हैं।

१४. विद्यालयके प्रत्येक छात्रसे व्यक्तिगत परिचय रक्खो।

१५. अपने विद्यालयमें अवसर-अवसरपर ऐसे उत्सव करते रहो जिनमें सब अभिभावक सम्मिलित हों और बाहरसे विभिन्न प्रकारके विद्वान् आकर छात्रोंको उपदेश और आदेश दे सकें।

यदि आचार्य-गण उपर्युक्त नियमोंके अनुसार व्यवहार करें तो उन्हें अवश्य सफलता मिलेगी और वे शीघ्र ही अत्यन्त यशस्वी और लोकप्रिय आचार्य बन सकेंगे।

॥ इति शम् ॥